सहजानंद शास्त्रमाला

इष्टोपदेश प्रवचन

प्रथम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'इष्टोपदेश प्रवचन प्रथम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें इष्टोपदेश प्रवचन के श्लोक १ से श्लोक २५ तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, **इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Contents

प्रकाशकीय....2

आत्मकीर्तन....3

आत्म रमण....3

प्रस्तावना....6

इष्टोपदेश प्रवचन प्रथम भाग....7

श्लोक 1....7

श्लोक 2....10

श्लोक 3....13

श्लोक 4....15

श्लोक 5....19

श्लोक 6....24

श्लोक 7....28

श्लोक 8....32

श्लोक 9....36

श्लोक 10....38

श्लोक 11....41

श्लोक 12....45

श्लोक 13....49

श्लोक 14....53

श्लोक 15....57

श्लोक 16....59

श्लोक 17....62

श्लोक 18....71

श्लोक 19....75

श्लोक 20....80

श्लोक 21....84

श्लोक 22....92

श्लोक 23....96

श्लोक 24....101

श्लोक 25 105

प्रस्तावना

अध्यात्म योगी परम पूज्य गुरुवर्य्य १०५ श्रीमद् सहजानन्द वर्णी जी ने अनेकों ग्रन्थों की रचना व टीकाएं की है। तथा उन्होनें महान आचार्यों की रचनाओं पर समय-समय पर अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किए व लिखे है। उनकी सभी रचनाएँ अपूर्व व अनुपम है। उनकी प्रत्येक रचना से यह झलक मिलती है कि मुमुक्षुजन आत्महित हेतु इन सूक्तियों को किस प्रकार आत्मसात करके उनके प्रयोगात्मक विधि से अपने जीवन के क्षणों में प्रयोग करे। और अनन्त काल तक के लिए सुखी होवे। यह विशेषता सहजानन्द जी की कृतियों में ही है। वे प्रति समय अपने उपयोग को स्थिर रखते थे और निरन्तर लिखने में ही संलग्न रहते थे। यहाँ तक की जीवन के अन्तिम क्षण में भी कलम उनके हाथ में ही था। ६२ वर्ष की अल्प आयु में उनका स्वर्गवास होना एक ऐसी क्षति है जो पूरी नही हो सकती।

इष्टोपदेश ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के रचयिता परमपूज्य १०८ आचार्य पूज्यपाद स्वामी की ५१ श्लोकों की एक छोटी सी अत्यन्त उपयोगी आध्यात्मिक कृति है। इसका अंग्रेजी अनुवाद स्वर्गीय बैरिस्टर चम्पतराय जी ने किया है। जो विदेशों में काफी प्रचलित है। इन्हीं पर वर्णी जी के प्रवचनों का यह द्वितीय संस्करण आपके सामने है आशा है आप इनका उपयोग करके धर्म लाभ उठावेंगे। मूल में शिष्य ने आचार्य प्रभु से प्रश्न किया कि प्रभु यदि अनुकूल चतुष्टय से ही साध्य की सिद्धि हो जायेगी तो व्रत समिति आदि का पालन निरर्थक हो जायेगा। आचार्य कहते हैं हे वत्स ! व्रत समिति आदि नवीन शुभ कर्मों के बंध का कारण होने से तथा पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का एक देश क्षय होने से पुण्य की उत्पत्ति होती है जो स्वर्गादि का कारण होता है अतः व्रतों के द्वारा देवपद प्राप्त करना अच्छा है अव्रतों के द्वारा नारक प्राप्त करने में तो कोई बुद्धिमानी है नही। शिष्य के पुनः-पुनः प्रश्न करने पर आचार्य समझाते हैं कि यदि आत्मा चरम शरीरी नहीं हो तो उसे स्वर्ग व चक्रवर्तादि के पद आत्मध्यान से उपार्जित पुण्य की सहायता से प्राप्त होते हैं जो परम्परा से मोक्ष ले जाने वाले हैं। अर्थात् चरम शरीरी न होने पर मोक्ष पुरूषार्थ भी स्वर्गादि सुखों का ही कारण है। आचार्य कहते हैं कि शरीर से भिड़कर शुचि पदार्थ भी अशुचि हो जाते हैं फिर अशुचि से अशुचि के सेवन में क्या चतुराई है। इस प्रकार पूज्य वर्णी जी ने इसका खुलासा करके सरल शब्दों में प्रशस्त प्रवृत्ति का बोध कराया है। अनेक विद्वानों व प्रवचनकारों ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है हम उन सबके आभारी है। आप भी शास्त्रमाला के स्थायी ग्राहक १०००) में बन सकते हैं जो ग्रन्थ अब तक छपे है। या जो आईन्दा छपेंगे वे सब उनको निःशुल्क भेजे जाते हैं।

भवदीय

१६-१०-९४ डा० नानकचन्द जैन

सान्तौल हाऊस, मौ० ठटेरबाड़ा मेरठ शहर

इष्टोपदेश प्रवचन प्रथम भाग

श्लोक 1

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।

तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने।।१।।

स्वभावप्राप्ति—समस्त कर्मों का अभाव होने पर जिसको स्वयं स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्मा के लिए मेरा नमस्कार हो। इस मंगलाचरण में पूज्यपाद स्वामी ने अपने आशय के अनुकूल प्रयोजन से नमस्कार किया है। वे थे सम्यग्ज्ञान के पूर्ण विकास के इच्छुक, अतः नमस्कार करने के प्रसंग में सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्मा पर दृष्टि गयी है। यह सम्यग्ज्ञान स्वरूपपना अन्य और कुछ बात नही है। जैसा स्वभाव है उस स्वभाव की प्राप्तिरूप है। जीव को ज्ञान कहीं कमाना नही पड़ता है कि ज्ञान कोई परतत्त्व हो और उस ज्ञान का यह उपार्जन करे, किन्तु ज्ञानमय ही स्वयं है इसके विकास का बाधक कर्मों का आवरण है। कर्मों का आवरण दूर होने पर स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति होती है।

प्रभु की स्वयंभुता—प्रभु के जो परमात्मत्व का विकास है वह स्वयं हुआ है, इसीलिए वे स्वयंभू कहलाते हैं। जो स्वयं हो उसे स्वयंभू कहते हैं। स्वयं की परिणति से ही यह विकास हुआ है, किसी दूसरे पदार्थ के परिणमन को लेकर यह आत्मविकास नही हुआ है और न किसी परद्रव्य का निमित्त पाकर यह विकास हुआ है। यह विकास सहज सत्त्व के कारण बाधक कारणों के अभाव होने पर स्वयं प्रकट हुआ है। इस ग्रन्थ के रचयिता पूज्य पाद स्वामी है। भक्तियों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जितनी भक्तियाँ प्राकृत भाषा में है उन भक्तियों के रचयिता तो पूज्य कुन्दकुन्द स्वामी है और जितनी भक्तियाँ संस्कृत में है उनके रचयिता पूज्यपाद स्वामी है। ये सर्व विषयो में निपुण आचार्य थे। इनके रचे गए वैद्यक ग्रन्थ, ज्योतिष ग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ आदि भी अनूठे रहस्य को प्रकट करने वाले हैं। इस ग्रन्थ का नाम इष्टोपदेश कहा गया है। इस ग्रन्थ के अंत में स्वयं ही आचार्य देव ने ''इष्टोपदेश इति'' ऐसा कहकर इस ग्रन्थ का नाम स्वयं इष्टोपदेश माना है।

इष्ट का उपदेश—इस ग्रन्थ में इष्ट तत्त्व का उपदेश है। समस्त जीवों को इष्ट क्या है? आनन्द। उस आनन्द की प्राप्ति यथार्थ में कहाँ होती है और उस आनन्द का स्वरूप क्या है? इन सब इष्टों के सम्बन्ध में ये समस्त उपदेश है। आनन्द का सम्बंध ज्ञान के साथ है, धन वैभव आदि के साथ नही है। ज्ञान का भला बना रहना, ज्ञान में कोई दोष और विकार न आ सके, ऐसी स्थिति होना इससे बढ़कर कुछ भी वैभव नही है, जड़ विभूति तो एक अंधकार है। उस इष्ट आनन्द की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति में निहित है और इस ज्ञान की प्राप्ति का उद्देश्य

लेकर यहाँ ज्ञानमय परमात्मा को नमस्कार किया है। स्वभाव ही ज्ञान है। आत्मा का जो शुद्ध चैतन्यरूप निश्चल परिणाम है, जो स्वतंत्र है, निष्काम है, रागद्वेष रहित है, उस स्वभाव की प्राप्ति स्वयं ही होती है, ऐसा कहा है।

उपयोग से स्वभाव की प्राप्ति—भैया ! स्वभाव तो शाश्वत है किन्तु स्वभाव की दृष्टि न थी पहिले और अब हुई है, इस कारण स्वभाव की प्रसिद्धि को स्वभाव की प्राप्ति कहते हैं। स्वभाव की प्राप्ति में कारण कुछ नही है, एक कर्मों का अभाव ही कारण है, विधिरूप कारण कुछ नही है किन्तु स्वभाव की दृष्टि न हो सकने में कारण था कर्मों का उदय इस कारण कर्मों के अभाव को स्वभाव की प्राप्ति का कारण कहा है। स्वभाव की प्राप्ति होने के बाद अनन्तकाल तक स्वभाव बना रहता है, विकसित रहता है, प्राप्त रहता है। वहाँ कौन सा कारण है, न कोई विधिरूप और न कोई निषेधरूप। वहाँ तो धर्म आदि द्रव्य जैसे स्वभाव से अपने गुणो में परिणते रहते हैं। ऐसे ही ये सिद्ध संत भगवंत अपने ही गुणों में स्वभावतः अपने सत्त्व के कारण शुद्धरूप से परिणमते रहते हैं पर प्रथम बार की प्राप्ति कर्मों के अभाव को निमित पाकर हुई है। जिस समय तपश्चरण आदि योग्य स्थितियों के धारणा से ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मों का क्षय हो जाता है और रागद्वेषादिक भाव कर्मों का क्षय हो जाता है तब यह आत्मा सम्यग्ज्ञान स्वरूप इस चिदानन्द ज्ञानघन निश्चल टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

स्वभाव की सहजसिद्धता का एक दृष्टान्त—स्वभाव कही से लाकर नही पाना है वह तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल है। जैसे पाषाण की प्रतिमा पहिले एक मोटा पाषाण ही था। किसी धर्मात्मा को कारीगर से उस पाषाण में से प्रतिमा निकलवानी है। कारीगर बड़ी गौर से उस पाषाण को देखकर ज्ञानबल से उस पाषाण में प्रतिबिम्ब का दर्शन कर लिया है, उसने आँखों से नही उस प्रतिमा के दर्शन कर लिया, किन्तु ज्ञान से। अब उस प्रतिमा को अनुरागवश प्रकट करने के लिए कारीगर अलग करता है, जिन पत्थरों के टुकड़ों के कारण वह प्रतिमा किसी को नजर नही आ रही है उन टुकड़ों को यह कारीगर अलग करता हे, कारीगर को सब विदित है।

आवरकों के अभाव में अन्तःस्वरूप के विकास का दृष्टान्तमर्म—यह कारीगर उन खण्डों को पहिले साधारण सावधानी के साथ अलग करता है। सावधानी तो उसके अन्दर में बहुत बड़ी है, किन्तु वहाँ इतनी आवश्यक नही समझी सो बड़ी हथौड़ा से उन खण्ड को जुदा करता है। मोटे-मोटे खण्ड जुदे होने पर अब उसकी अपेक्षा विशेष सावधानी बर्तता है, उससे कुछ पतली छेनी और कुछ हल्की हथौड़ी लेकर कुछ सावधानी के साथ उन पाषाण खण्डों को निकालता है। तीसरी बार में अत्यन्त अधिक सावधानी से और बड़े सूक्ष्म यत्न से बहुत महीन छेनी को लेकर और बहुत छोटे हथौड़े को लेकर अब उन सूक्ष्म खण्डों को भी अलग करता है, अलग हो जाते हैं ये सब आवरक पाषाण खण्ड तो वे अवयव प्रकट हो जाते हैं जिन अवयवों में मूर्ति का दर्शन हुआ है। कारीगर ने मूर्ति बनाने के लिए नई चीज नहीं लाई, न वहाँ के किन्ही तत्त्वों को उसने जोड़ा है, केवल जो प्रतिमा निकली है उस अवयवों के आवरक या खण्डों को ही उसने अलग किया है। वह प्रतिमा तो स्वयंभू है, किसी अन्य चीज से बनी हुई नही है।

आवरकों के अभाव में अन्तःस्वरूप का विकास—ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि इस चैतन्यपदार्थ में अतः स्वभाव के दर्शन कर लेते हैं उनके यह साहस होता है कि इस स्वभाव को वे प्रकट कर लें। इस स्वभाव के प्रकट होने का ही नाम परमात्मस्वरूप का प्रकट होना है। स्वभाव प्रकट करने के लिए किन्ही परतत्त्वों को नही जोड़ना है, किन्तु उस स्वभाव को आवरण करने वाले जो विभाव है, रागद्वेष विषयकषाय शल्य आदि जितने विभाव है। उन सबको वह दूर करता है। कैसे वह दूर करता है? स्वभाव में और उन पर भावों में भेदज्ञान का उपयोग करके करता है।

ज्ञानी की सावधानी सहित वर्तना—भेदविज्ञान के यत्न में इस ज्ञाता के पहिले तो एक साधारण सावधानी होती है जिसमें यह इस शरीर से भिन्न आत्मा को परखता है। यद्यपि अन्तर में सावधानी का माद्दा वही पूर्णरूपेण पड़ा हुआ है लेकिन अत्यन्त अधिक सावधानी की आवश्यकता नही रहती है किन्तु उसकी आंतरिक सावधानी का सम्बंध रखकर जो साधारण सावधानी चलती है उससे ही शरीर और आत्मा में भेद की परख हो जाती है, यह पहिली सावधानी है। इसके पश्चात् अंतरंग में एक क्षेत्रावगाह से पड़े हुए जो अन्य सूक्ष्म कार्माण आदि पुद्गल द्रव्य है, जिनका इस आत्मा के साथ निमित्तनैमित्तिक बंधन है उन कार्माण द्रव्यो से भी अपने को जुदा कर लेता है। इसके पश्चात् तीसरी सावधानी में कुछ विशेष ज्ञानबल लगाना है। प्रवर्तते हुए रागद्वेषादिक भावो से यह पृथक है, इनसे भिन्न यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं ऐसा भेद डालना निरखना यह सूक्ष्म सावधानी का काम है। जहाँ रागद्वेष विषय कषायों की कल्पनाएँ ये दूर हुई कि अपने आप में बसा हुआ यह ज्ञायकस्वरूप स्वयं विकसित हो जाता है। इसी कारण यह तत्त्व प्रभु परमात्मा स्वयंभू कहलाता है।

परमात्मा की प्रभुता और विभुता—इस परमात्मा का नाम प्रभु भी है। जो प्रकृष्ट रूप से हो उसे प्रभु कहते हैं। संसार अवस्था में किसी विशिष्ट रूप रह रहा था, अब वह विशिष्ट दशा को त्याग कर ज्ञानोपयोग में बसने रूप उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो रहा है। यह प्रभु कहलाता है यह परमात्मा विभु भी कहलाता है। जो व्यापकरूप से हो उसे विभु कहते हैं। यह ज्ञानस्वरूप परमात्मा ज्ञान द्वारा समस्त लोक और अलोक में व्यापक है, इसी कारण इस परमात्मा का नाम विभु है और इस ही परमात्मा को स्वयंभू कहते हैं। जो यह विकास स्वयं प्रकट हुआ है। परमात्मा का दर्शन ज्ञानरूप में ही किया जा सकता हे और परमात्मा के दर्शन में ही वास्तविक शान्ति मिलती है। अधिक से अधिक समय इस ज्ञानमय परमात्मतत्त्व के दर्शन के लिए लगाएँ, इस ही को व्यवहार धर्म की उन्नति कहते हैं।

ज्ञानस्वरूप के दर्शन से जीवन की सफलता—भैया ! साधुजन तो चौबीस घंटा इस ही परमात्मतत्त्व के दर्शन के लिए लगाते हैं। और फिर श्रावकों में भी उत्कृष्ट श्रावकजन अपना बहुत समय इस परमात्मतत्त्व के दर्शन में लगाते हैं। और उससे भी कुछ नीचे श्रावकजन भी और विशेष नही तो ५-५ घंटे बाद समझिये सामायिक के रूप में अपने परमात्मादर्शन के लिये सावधान बनाते हैं। इस मनुष्य भव को पाकर करने योग्य काम एक यही

है। अन्य-अन्य कार्यों में व्यस्त होने से तत्त्व की बात क्या मिल जायगी? इसकी प्रगति तो रत्नत्रय की प्रगति में है जितना अधिक काल ज्ञानस्वरूप अपने आपको निरखने मे जाय उतना काल इसका सफल है। ज्ञान के रूप में परमात्मा का दर्शन होता है, ज्ञान के रूप में अपने आत्मा का अनुभव होता है और विशुद्ध ज्ञान की परिणति के साथ आनन्द का विकास चलता है, इसी कारण परमात्मा को सम्यग्ज्ञान स्वरूप की मुद्रा में निरखा जा रहा है।

आदर्श—जो जिसका रूचिया होता है वह उसका संग करता है, वह उसकी धुन बनाता है, उसको उस ही मार्ग का आप्त अर्थात् पहुँचा हुआ पुरुष आदर्श है, खोटे कार्यों में लगने वाले पुरुष को खोटे कार्यों में निपुण लोग आदर्श हैं और आत्महित की अभिलाषा करने वाले मनुष्य के आत्महित में पूर्ण सफल हुए शुद्ध आत्मा आदर्श है। जो जिस तत्त्व का अभिलाषी होता है वह उस तत्त्व का ही यत्न करता है। अपने आपके ज्ञानस्वरूप निरखे बिना न तो परमात्मदर्शन में सफलता हो सकती है और न आत्मानुभव में सफलता हो सकती है। ये कषाय भी इस ही शुद्ध ज्ञानस्वरूप की दृष्टि के बल से मंद होती है। कषायों का विनाश भी इस ही स्वभाव के अवलम्बन से होता है क्योंकि यह स्वभाव स्वयं निष्कषाय है, निर्दोष है। इस स्वभाव की उपासना करने वाले संतजन सदा प्रसन्न रहते हैं। वे परपदार्थों के किसी भी परिणमन से अपना सुधार और बिगाड़ नही समझते हैं। वे सदा अनाकुल रहते हैं, परम विश्राम का साधन जो स्वतंत्र अकर्ता अभोक्ता प्रतिभात्मक तत्त्व है उसकी दृष्टि हो, न हो तो अनाकुलता वहाँ कैसे प्रकट हो ? जो अपने को अन्य किसी रूप मान लेते हैं वे जिस रूप मानते हैं उसकी और उनकी प्रगति हो जाती है।

स्वभावावाप्ति के अन्तर्बाह्य साधन—द्रव्यकर्मों का अभाव होने पर स्वभाव की प्राप्ति कहना एक निमित नैमित्तिक सम्बन्ध की बात बताना है और रागद्वेष आदि भावकर्मों का अभाव होने पर स्वभाव के प्रकट होने की बात कहना यह प्रागभाव प्रध्वंसभावरूप में कथन है अर्थात हमारे विकास का साक्षात् बाधक भावकर्म है, द्रव्यकर्मों तो हमारे बाधकों का निमित्त कारण है। स्वभाव की प्राप्ति इन समस्त कर्मों का अभाव होने पर होती है। जब स्वभाव की प्राप्ति हो लेती है तब उनका स्वरूप विशुद्ध सम्यग्ज्ञानमय होता है, ऐसे ज्ञानात्मक परमात्मा को हमारा नमस्कार हो, वे सदा जयवंत रहें और उनके ध्यान के प्रसाद से मुझमें अतः विराजमान परमात्मतत्त्व जयवंत होओ। अन्तः प्रकाशमान यह परमात्मतत्त्व व्यक्तरूप से प्रकाशमान हो जावे—यही स्वभाव की परिपूर्ण प्राप्ति है। इस स्व समयसार को मेरा उपासनात्मक नमस्कार होओ।

श्लोक 2

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता ।

द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता।।२।।

स्वभावावाप्ति का विधिरूप अन्तरंङ्ग कारण—पहिले श्लोक में आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति का उपाय निषेध रूप कारण से बताया गया था अर्थात् समस्त कर्मों का अभाव होने पर स्वभाव की स्वयं प्राप्ति हो जाती है, इस तरह निषेध रूप कारण बताकर अभेद स्वभाव की प्राप्ति कही गयी थी, अब इस श्लोक में विधिरूप कारण बताते हैं। जैसे योग्य उपादान के योग से एक पाषाण में जो कि स्वर्ण के योग्य है जिसे स्वर्णपाषाण कहते हे। उसमें स्वर्णपना माना गया है अर्थात् प्रकट होता है, इस ही प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के योग्य सामग्री विद्यमान हो जाती है तो इस आत्मा में निर्मल चैतन्यस्वरूप आत्मा की उपलब्धि होती है।

स्वभावावाप्ति के अन्तरंग कारण का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—दृष्टान्त में यह कहा गया है कि जैसे खान से निकलने वाले स्वर्णपाषाण में स्वर्णरूप परिणमन का कारण भूत जब वह सुयोग्य होता है तो बाह्य में कारीगरों द्वारा ताड़ना, तापना, पिटना, आदि प्रयोगो से वह स्वर्णपाषाण से अलग होकर केवल स्वर्ण कहलाने लगता है। अब उस स्वर्ण में स्वर्णपाषाण का व्यवहार नही रहता। वह तो सोना हो गया है, इस ही प्रकार अनादिकाल से कर्ममल से मलिन हुआ संसारी आत्मा के जब योग्य द्रव्य, योग्य क्षेत्र, योग्य काल और योग्य भावरूप साधनों की उपलब्धि होती है तो बाहरी तपस्या, धर्म पालन आदि जो बाह्य विशुद्धि के साधन कहे गए है, उन साधनों के अनुष्ठान से, आत्मध्यान के प्रयोग से कर्म ईधन भस्म हो जाते हैं और स्वात्मा की उपलब्धि हो जाती है। अपने आत्मा के लिए अपना आत्मा योग्य द्रव्य कैसा होता है जिसमें शुद्ध परिणमने के योग्य परिणमन शक्ति आने लगती है।

उपादानभूत द्रव्य की योग्यता—इसे सुनिये द्रव्य में २ प्रकार की शक्ति है—एक ध्रुव शक्ति और एक अध्रुव शक्ति। द्रव्य में शाश्वत सामान्य परिणमनरूप शक्ति तो ध्रुव शक्ति है और वह द्रव्य कब किस प्रकार परिणमने की योग्यता रखता है ऐसी शक्ति को पर्यायशक्ति कहते हैं। जैसे जीव में ज्ञान दर्शन आदि सामान्य शक्ति ध्रुव शक्ति है और मनुष्य के योग्य काम कर सके ऐसा बोले चाले खाये पिये व्यवहार करे, इस तरह के रागादिक भाव हो इस पद्धति की जैसी मनुष्यों के शक्ति होती है यह सब पर्यायशक्ति है। यह अध्रुव है, इस तरह की योग्यता मनुष्य के रहना ठीक ही है, मनुष्य मिट गया फिर यह प्रकृति नही रहती। तो जब कल्याणरूप परिणमन की योग्यता आती है तो वह है योग्य पर्यायशक्ति वाला द्रव्य। यह तो आंतरिक बात है। बाह्य में योग्य गुरूजन, योग्य उपदेशक इत्यादि पदार्थों का समागम मिलता है और उस वातावरण मे, उस समागम में जो विशुद्धि हो सकती है उस विशुद्धि के लिए वे योग्य द्रव्य कारण पड़ते हैं। बाह्य में भी योग्य द्रव्य मिल जायें और अंतरंग योग्य होने की पर्यायशक्ति प्रकट हो जाय ऐसे योग्य द्रव्य का उपादान होने पर अपने आप में स्वभाव की प्राप्ति स्वयं हो जाती है।

कल्याण योग्य क्षेत्र काल भाव की प्राप्ति—योग्य क्षेत्र अपने आप में उस प्रकार की विशुद्धि के योग्य यह आत्म पदार्थ हुआ, तो इस ही को एक आधार की प्रमुखता से निरखा जाय तो उसे योग्य क्षेत्र कहते हैं और

बाहर में योग्यस्थान—जैसे समवशरण का स्थान या अन्य कोई धर्म प्रभावक स्थान है। ऐसा योग्य क्षेत्र मिलने पर इसकी दृष्टि इस स्वभाव के निरखने की हो जाती है और वहां स्वभाव की प्राप्ति मानी गयी है। योग्य काल क्या है? अपने आपके शुद्ध परिणमन होने के लिए जो प्रथम पर्याय है, परिणमन है वह निज का योग्य काल है, और बाहर में धर्म समागम वाले काल, चतुर्थकाल तीर्थंकरों के वर्तने का काल, ये सब योग्य काल कहलाते हैं, योग्य काल की प्राप्ति होने पर इस आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि होती है। इस ही प्रकार योग्यभाव अंतरंग में जो स्वभाव भाव है वह तो शाश्वत योग्यभाव है, उस स्वभाव भाव के विकास होने रूप जो कुछ पर्याय योग्यता है, भव्यत्व भाव है, भव्यत्वभाव के विपाक होने के काल में जो योग्य विशुद्ध परिणाम है वह शुद्ध विशुद्ध परिणाम योग्य भाव कहलाता है।

शुद्ध दृष्टि में आत्मता की व्यक्ति—उक्त प्रकार से योग्य निज द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्राप्ति होने पर आत्मा में आत्मता प्राप्त होती है। जैसे लोग कहते हैं कि इन्सान वही है जिसमें इन्सानियत है। भला, इन्सानियत बिना भी कोई इन्सान होता है? नही होता है यहाँ इन्सानियत को केवल ईमान की चीज इतना ही अर्थ न किया जाय अर्थात् जिन परिणामों से इन्सान की शोभा है, इंसानियत की प्रगति है उन परिणामों का नाम इंसानियत कह लीजिए तो यह वाक्य प्रयोग में आने लगेगा कि जिसमें इंसानियत नही है, वह इन्सान ही नही है। इस इन्सान में इन्सानियत प्रकट हुई है तो क्या पहिले कभी इन्सानियत न थी? थी, किन्तु इन्सानियत का अर्थ भले प्रकार के आचार विचार वाले परिणाम है, वे अब प्रकट हुए है। ऐसे ही यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा से आत्मता प्रकट होती है। तो क्या यह आत्मता आत्मा से भिन्न थी? न थी, फिर भी आत्मा उसको माना गया है आदर दृष्टि में आ करके जो शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करता है, मोक्षमार्ग में अपना कदम रखता है, ऐसे मोक्षमार्गी जीव को आत्मा शब्द से पुकारे और मोक्षमार्ग में चलने की जो पद्धति है उसको आत्मता माने तो यह आत्मता आत्मा से प्रकट होती है अर्थात् बहिरात्मत्व से निवृत्त होकर यह अन्तरात्मत्व प्रकट होता है। बहिरात्मत्व का परिहार होकर यह विवेक, उपयोग प्रकट होता है। अहिंसा आदि व्रतों का भली प्रकार पालन करने से स्वरूप की प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त सम्मत है।

एक जिज्ञासा—यदि उत्तम द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री मिलने से ही स्वरूप की उपलब्धि हो जाय तो अहिंसा आदि व्रतों का करना व्यर्थ हो जायगा। एक यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है कि ऐसा सिद्धान्त बनाने में कि जब योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की, सामग्री मिलेगी तो स्वयं ही स्वरूप की प्राप्ति होगी, तब क्या तप करना, व्रत संयम करना, ये सब व्यर्थ की चीजें किसलिए की जाती है? समाधान में यह कह रहे हैं कि यहाँ यह नही समझना कि बाह्य व्रत तप संयम और अंतरंग व्रत, तप, संयम को निरर्थक कहा गया है। स्वरूप की प्राप्ति के उद्यम में व्रत आदि का पालना निरर्थक नही है। उनके यथायोग्य पालन करने से पापकर्मों का निरोध हो जाता है और पहिले बंधे हुए कर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं। उनके और शुभोपयोगरूप परिणमते हुए के

पुण्यकर्म का संचय होता है। जिसके उदयकाल में इष्ट सुखों की प्राप्ति अनायास हो जाती है इसी तरह योग्य चतुष्टयरूप उपादान के रहते हुए भी व्रतों का पालना निरर्थक नही है, इस बात को और स्पष्ट रूप से कह रहे हैं।

श्लोक 3

वरं वृतैः पदं दैवं नाव्रतैवर्त नारकम्।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।।३।।

अव्रतभाव से व्रतभाव की श्रेष्ठता—जैसे कोई पुरुष छाया में बैठकर अपने किसी दूसरे साथी की बाट जोहे और कोई अन्य पुरुष गर्मी की धूप में बैठकर अपने साथी की बाट जोहें, उन दोनों बाट जोहने वालो मे कुछ फर्क भी है कि नही? फर्क है वह फर्क यही है कि छाया में बैठकर जो अपने दूसरे साथी की राह देखता है वह पुरुष छाया में तो है, उसे छाया शान्ति तो दे रही है, और जो धूप में बैठा हुआ साथी की बाट जोह रहा है उसे धूप से कष्ट हो रहा है। इसी तरह व्रत के अनुष्ठान से स्वर्ग आदि सुखों की वर्तना के बाद मोक्ष प्राप्त होता है और अव्रत से पहिले नरक के दुःख भोगने पड़ते हैं, फिर बात ठीक बने तो वर्तना के बाद मोक्ष प्राप्त होता है और अव्रत से पहिले नरक के दुःख भोगने पड़ते हैं, फिर बात ठीक बने तो मुक्ति प्राप्त होती हे। मुक्ति जाने वाले मानों दो जीव हैं, जायेंगे वे मुक्त, पर एक व्रताचरण में रह रहा है तो वह स्वर्ग आदि के सुख भोगकर बहुत काल तक रहकर मनुष्य बनकर योग्य करनी से मोक्ष जायगा। और कोई पुरुष पाप कर रहा है, अव्रतभाव में है। तो पहिले नरक के कष्ट भोगेगा, नरक के दुःखों को भोगकर फिर मनुष्य अपनी योग्य करनी से मोक्ष जा सकेगा। सो व्रत आदि करना निरर्थक नही है, वह जितने काल संसार में रह रहा है उतने काल सुख और शान्ति का किसी हद तक कारण तो यह व्रत बन रहा है।

व्रत की प्रायोजनिक सार्थकता—यहाँ यह शंका की गई थी कि द्रव्य आदि चतुष्टय रूप सामग्री के मेल से आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जायगी तब ऐसे तो व्रत आदि का पालन करना व्यर्थ ही ठहरेगा। इस पर यह समाधान दिया गया है कि व्रतों का आचरण करना व्यर्थ नही जाता क्या कि अव्रत रहने से अनेक तरह के पापों का उपार्जन होता है, और उस स्थिति में यह हित और अहित में विवेक से शून्य हो जाता है। पाप परिणामों में हित और अहित का विवेक नही रहता, तब फिर यह बढ़कर मिथ्यात्व आदि पापों में भी प्रवृत्ति करने लगता है, तब होगा इसके अशुभकर्म का बंध। उसके फल में क्या बीतेगी? उस पर नारकादिक की दुर्गतियां आयेंगी, घोर दुःख उठाना पड़ेगा, अव्रत परिणाम में यह अलाभ है किन्तु व्रत परिणाम में अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग की विशुद्धि प्राप्त होने से नारकादिक दुर्गतियों के घोर नष्ट नही सहने पड़ते हैं। क्योंकि जो व्रतों के वातावरण में रहता है उसे हित और अहित का विवेक बना रहता है, पापों से वह भयभीत

बना रहता है और आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए वह सावधान बना रहता है। होता क्या है कि व्रती पुरुष परलोक में स्वर्ग आदि के सुखों को चिरकाल भोगते हे। चिरकाल सुख भोगने के बाद क्षय होने पर ये मनुष्य बनते हैं और यहाँ भी योग्य जीवन व्यतीत करते हुए ये कर्मों का क्षय कर देते हैं और भवातीत बन जाते हैं व्रत और अव्रत में तो शान्ति अशान्ति विषयक तत्काल का भी फर्क है।

वास्तविक व्रत की व्यर्थता—भैया ! जो वास्तविक पद्धति से व्रती होता है वह अशांत नही होता है किन्तु जो व्रती का बाना तो रख ले, पर अंतरंग में व्रत की पद्धति नही है, संसार शरीर और भोगो से विरक्ति नही है तो उस पुरुष को इन व्रतों से लाभ नही पहुंचता। वह व्रती ही कहाँ है? वह तो अपने अंतरंग में अज्ञान का अंधेरा लादे है, इसी से वह दुःखी है, अशान्त है, व्रत करना तो कभी व्यर्थ नही जाता।

सदाचार से दोनों लोक में लाभ—एक बार किसी पुरुष ने एक शंका की कि परभव को कौन देख आया है कि परभव होता है या नही, उस परभव का ख्याल कर करके वर्तमान में क्यों कष्ट भोगा जाय? कम खावो, गम खावो, व्रत करो, अनेक कष्ट भोगे जायें इनसे क्या लाभ है? तो दूसरा पुरुष जो परभव को मानने वाला था वह कहता है कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है कि परभव नही है किन्तु अब हम लोगो को करना क्या है? सत्य बोलें, कुशील से बचे, परिग्रह का संचय न करे, अहिंसा का पालन करे, किसी जीव को न सताये, यह करना है ना, तो देखो ऐसा योग्य व्यवहार जो करता है उस पर क्या दुनिया ने कोई आफत डाली है? जो चोर होते हैं झूठे व दगाबाज होते हैं, कुशील परिणामी होते हैं, परिग्रह के संचय का भाव रखते हैं ऐसे पुरुष पिटते हैं, दंड पाते हैं। तो अच्छे कामों के करने से इस जीवन में सुख है। यह तो केवल कहने-कहने की बात है कि खूब आराम से स्वच्छन्द रहे, जब मन आये खाये, जब जो मन आये सो करे। मनुष्य जन्म पाया है तो खूब भोग भोगे, वे इनमें सुख की बात बताते हैं किन्तु सुख उन्हें है नही। आनन्द जिसे होता है वह अक्षुब्ध रहता है। वैषयिक सुखों की प्राप्ति के लिए तो बडे क्षोभ करने पड़ते हैं और जब कभी सुख मिल भी जाय तो उस सुख का भोगना क्षोभ के बिना नही होता। उस सुख में भी इस जीव ने क्षोभ को भोगा, शान्ति को नही भोगा। तो उत्तम व्रत आचरण करने से वर्तमान में भी सुख शान्ति रहती है और यदि परभव निकल आये तो परभव के लिये वह योग्य काम होता ही है, किन्तु पाप दुराचार के बर्ताव से इस जीवन में भी कुछ सुख-शान्ति नही मिलती और परभव होने पर परभव में जाना पड़े तो वहाँ पर भी अशान्ति के ही समागम मिलेंगे, इस तरह व्रतों का अनुष्ठान करना व्यर्थ नही है।

सुविधा समागम से अपूर्व लेने का अनुरोध—अरे भैया ! भली स्थिति में रहकर मोक्षमार्ग का काम निकाल लो। पाप प्रवृत्ति में रहने से प्रथम तो मोक्षमार्ग में अन्तर पड़ जाता है और दूसरे तत्काल भी अशान्ति रहती है इस कारण ये व्रत आदि परिणाम मोक्षमार्ग के किसी रूप में सहायक ही है, ये व्यर्थ नही होते हैं, लेकिन यह बात अवश्य है कि मोक्षमार्ग शुद्ध दृष्टि से ही प्रकट होता है, अर्थात सम्यक्त्व हो, आत्मस्वभाव का आलम्बन

हो तो मोक्षमार्ग प्रकट होता है। जिस आत्मा के आलम्बन से मोक्षमार्ग मिलता है वह आत्मा पाप पुण्य सर्व प्रकार के शुभ-अशुभ उपयोगो से रहित है, ऐसे अविकारी आत्मा में उपयोग लगाने से यह अविकार परिणमन प्रकट होता है। आनन्द है अविकार रहने में। ममता मे, कषाय में, इच्छा में, तृष्णा में शान्ति नही है। ऐसे इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा का आलम्बन हो और बाह्य में योग्य व्रत आदि हो, ऐसे जीवों को स्वभाव की प्राप्ति होती है।

श्लोक 4

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियदूदरवर्तिनी।

यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्द्धे किं स सीदति।।४।।

शान्तिबललाभ के लिये क्लेशों के सिलसिला की सुध—संसार में नाना प्रकार के क्लेश भरे हुए है। किसी भव में जावो, किसी पद में रहो, संसार के सभी स्थानों में क्लेश ही क्लेश है। कोई धनी हो तो वह भी जानता है कि मुझे सारे क्लेश ही क्लेश है, बाह्य पदार्थों की रक्षा, चिन्ता जो अपने वश की बात नही है उसे अपने वश की बात बनाने का संकल्प, इस मिथ्याश्रय में क्लेश ही क्लेश है। कोई धनी न हो, निर्धन हो तो वह भी ऐसा जानता है कि मुझे क्लेश ही क्लेश है। कोई संतान वाला है तो वह भी कुछ समय बाद समझ लेता है कि इन समागमों में भी क्लेश ही क्लेश है। न हो कोई संतान तो वह भी अपने में दुख मानता है कि मुझे बहुत क्लेश है। तब और कौन सी स्थिति ऐसी है जहाँ क्लेश न हो? संसार में है कुछ ऐसा जो लोग देश के नेता हो जाते हैं अथवा ऊँचे अधिकारी हो जाते हैं उनके भी संकटों को देख लो, वे कितनी बेचैनी में रहते हैं। संसार की किसी भी दशा में चैन नही है। ऐसा जानकर अपने को यों ही समझो कि जब यह संसार की दशा है तो इसमें ऐसा होना ही है। दुःख आयें तो उनमें क्या घबड़ाना?

कष्ट में यथार्थ सुध से कष्ट सहिष्णुता का लाभ—एक कोई सेठ था, उसे किसी अपराध में जेल कर दी गयी। अब जेल में तो चक्की पीसनी पड़ती है। जेल में उस सेठ को सब कुछ करना पड़े तो सेठ सोचता है कि कहाँ तो मैं गद्दा तक्की पर बैठा रहा करता था, आज इतने काम करने पडते हैं। वह बहुत दुःखी हो रहे। इसी तरह सोच-सोचकर वह सदा दुःखी रहा करे। तो एक कोई समझदार कैदी था, उसने समझाया कि सेठ जी यह बतावो कि इस समय तुम कहाँ हो? बोला जेल मे। तो जेल में और घर में कुछ अन्तर है क्या ? हाँ अन्तर है। यहाँ जेल में सब कुछ करना पड़ता है और वहाँ आराम भोगना होता है। तो सेठ जी अब वहाँ का नाता न समझो, अब अपने को यहाँ सेठ न समझो। यह तो जेल है, ससुराल नही है। जेल में तो ऐसा ही काम करना होता है। समझ में कुछ लगा और उसे दुःख कम हो गया। ऐसे ही कितने ही संकट आये, यह समझो कि यह संसार तो संकट से भरा हुआ है। यहाँ तो संकट मिला ही करते हैं। इतनी भर समझ होने पर सब संकट

हल्के हो जाते हैं। और जहाँ यह जाना कि यह आया मुझ पर संकट तो इस प्रकार की अनुभूति से संकट बढ़ जाते हैं।

संकट मुक्ति का उपाय—समस्त संकटो के मेटने का उपाय क्या है? लोग बहुत उपाय कर रहे हैं संकट मेटने का, कोई धन कमाकर, कोई परिवार जोड़कर, कोई कुछ करके, किन्तु जैसे ये प्रयत्न बढ़ रहे हैं वैसे ही दुःख और बढ़ते जा रहे हैं। सच बात तो यह है कि संकट मेटने का उपाय बाह्य वस्तु का उपयोग नही है। अपना मुख्य काम है अपने को ज्ञान और आनन्दस्वरूप मानना। यह शरीर भी मैं नही हूँ—ये विचार विकल्प जो कुछ मन में भरे हुए है। ये भी में नही हूं मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। इस प्रकार अपने आपकी प्रतीति हो तो शान्ति का मार्ग मिलेगा। बाह्य पदार्थों का उपयोग होने से आनन्द नही मिल सकता है।

आनन्द विकास के पथ में व्यवहार और निश्चय पद्धति—उस यथार्थ आनन्द को प्रकट करने के लिए दो पद्धतियों को लिया जाना चाहिए—एक व्यवहार पद्धति और एक निश्चय पद्धति। जैसे हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह का त्याग कर देते हैं, और भी मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं ये सब व्यवहार पद्धति की बातें है। निश्चय पद्धति में अपने आपके सहजस्वरूप का ही अवलोकन है। इन दो बातों में से उत्कृष्ट बात अपने आत्मा के सहज स्वभाव के परख की है, इसमें जो अपना परिणाम लगाते हैं। उन्हें जब मोक्ष मिल जाता है इन परिणामो से तो इससे स्वर्ग मिल जाय तो यह आश्चर्य की बात नही है। जो मनुष्य किसी भार को अपनी इच्छा से, बहुत ही सुगमता और शीघ्रता से दो कोश तक ले जाता है वह उस भार को आधा कोश ले जाने में क्या खेद मानता है? वह तो उस आधा कोश को गिनती में ही नहीं लेता है, शीघ्र उस भार को ले जाता है। यों ही जिस भाव में मोक्ष प्राप्त करा देने की सामर्थ्य है वह कौन सा भाव है जिस भाव पर दृष्टि देने से स्वर्ग भी मिल जाता है और मोक्ष भी मिलता है? अपने-अपने पद और योग्यता के अनुरूप वह भाव है अपने आपकी सच्ची परख। जो पुरुष अपनी परख नही कर पाते वे कितनी ही लोक चतुराई कर लें पर शांति नही मिल सकती। इस तरह सबसे पहिले अपनी सच्ची श्रद्धा करना जरूरी है मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं अमुक की चाची हूं, अमुक की मां हूं, अमुक का चाचा हूं, इत्यादि किसी भी प्रकार की अपने में जो श्रद्धा बसा रक्खी है उसका फल क्लेश ही है। कहाँ तो अपने भगवान तक पहुंचना था और कहाँ इस शरीर पर ही दृष्टि रख रहे हैं।

दृष्टि की परख—एक राजसभा में बडे-बडे विद्वान आये थे। वहाँ एक ऋषि पहुंचा जिसके हाथ पैर, पीठ, कमर सभी टेढ़े थे और कुरूप भी था। वह व्याख्यान देने खड़ा हुआ तो वहाँ बैठे हुए जो पंडित लोग थे वे कुछ हँसने लगे क्योंकि सारा अंग टेढ़ा था। वह विद्वान ऋषि उन पंडितों को सम्बोधन करके बोला—हे चमारो ! सब लोग सुनकर दंग रह गये कि यह तो हम सभी लोगों को चमार कहते हैं। खैर, वह स्वयं ही विवरण करने लगा। चमार उसे कहते हैं जो चमड़े की अच्छी परख कर लेता है, तो यहाँ आप जितने लोग मौजूद हैं सब लोग

हमारे चमड़े की परख कर रहे हैं। आप लोग हमारे शरीर का चमड़ा निरख कर हंस रहे हैं, तो जो चमड़े की परख करना जाने कि कौनसा अच्छा चमड़ा है और कौन सा खराब चमड़ा है उसका ही तो नाम चमार है। तो सभी लोग लज्जित हुए? अब अपनी-अपनी बात देखो कि हम चमड़े की कितनी परख करते हैं और आत्मा की कितनी परख करते है? इसमें कुछ डर की बात नही है, अगर चमड़े की हम ज्यादा परख करते हैं तो हम कौन है? कह डालो अपने आपको कुछ हर्ज नही है। खुद ही कहने-कहने वाले और खुद को ही कहने जा रहे हैं, खूब दृष्टि पसारकर देखो कि हम कितना चमड़े की परख में रहा करते है? यह मैं हूं, यह स्त्री है, यह पुत्र है, इस चाम की चाम को देखकर व्यवहार में बसे हुए जो जीव हैं उन्हें ही सब कुछ माना करते हैं, उस जानने देखने, चेतने वाले को दृष्टि में लेकर कोई नही कहता है। जो मिल गया झट पहिचान गये कि यह मेरे चाचा का लड़का है। इस तरह से सभी जीव इस चमड़े की परख करते रहते हैं, इसका ही तो इन्हें दुःख है।

शुद्ध परिणाम की सामर्थ्य—भैया ! हम आप सभी इसी बात में आनन्द मानते हैं कि खूब धन बढ़ गया, खूब परिवार बढ़ गया पर जिस भाव में आनन्द है उसका अज्ञानियों को पता ही नही है। ज्ञानियो को स्पष्ट दीखता है कि सच्चा आनन्द तो इससे ही मिलेगा। वह भाव है एक ज्ञान प्रकाश अमूर्त किसी भी दूसरे जीव से जिसका रंच सम्बन्ध नही, ऐसा यह मैं केवल शुद्ध प्रकाशात्मक हूं, ऐसे ज्ञानस्वभाव में परिणाम जाय तो यह परिणाम मोक्ष को देता है, फिर स्वर्ग तो कितनी दूर की बात रही, अर्थात वह तो निकट और अवश्यंभावी है। जो मनुष्य बलशाली होता है वह सब कुछ कर सकता है। सुगम और दुर्गम सभी कार्यों को सहज ही सम्पन्न कर सकता है। कौन पुरुष ऐसा है जो कठिन कार्यों के करने की तो सामर्थ्य रखता हो और सुगम कार्यों के करने की सामर्थ्य न रखता हो। वह अपने आपमें अपनी शक्ति को खूब समझता है। उसके लिए सभी कार्य दुर्गम अथवा सुगम हो, सरल होते हैं।

महती निधि से अल्पलाभ की अतिसुगमता—जैसे कोई बोझा उठाने में बलशाली है तो वह छोटा बोझा उठाने में कुछ असुविधा नही मानता है, ऐसे ही जिस शुद्ध आत्मा के भाव में भव-भव के बांधे हुए कर्म कालिमा को भी जलाने की सामर्थ्य है, स्वात्मा की प्राप्ति करने की सामर्थ्य है उससे स्वर्ग आदिक सुख प्राप्त हो जायें इसमें कौन सी कठिनाई है? किसान लोग अनाज पैदा करने के लिए खेती करते हैं तो उद्यम तो कर रहे हैं धान और अनाज को पैदा करने का और भूसा उन्हें अनायास ही मिल जाता है। कोई खाली भूसा के लिए खेती करता है क्या? अरे भुसा तो स्वयं ही मिल जाता है। तो जिसका जो मुख्य प्रयोजन है वह अपने कार्य में उसी का ही ध्यान रखता है, बाकी सब कुछ तो अनायास ही होता है, इसी तरह जिसके भेदाभ्यास में इतना बल है कि उसकी तपस्या से भव-भव के संचित कर्म क्षणमात्र में ध्वस्त हो जाते हैं, तो उस तपस्या के प्रसाद से ये संसार के सुख मिल जाना यह तो कुछ दुर्लभ ही नही है।

व्रत का लाभ—आत्मीय जो सत्य आनन्द है उसकी प्राप्ति में उत्तम द्रव्य मिलना, उत्तम क्षेत्र, उत्तम काल और उत्तम भाव मिलना, जब ऐसी योग्य सामग्री मिलती है तो उसकी उस शक्ति से मोक्ष रूप महान् कार्य उत्पन्न हो जाता है फिर उससे स्वर्ग मिल जाये तो कौनसा आश्चर्य है, किन्तु अल्प शक्ति वाले व्रत का आचरण करें तो उसे स्वर्ग सुख ही मिल सकता है मोक्ष का आनन्द नही। इससे ज्ञानी पुरुषों को आत्मा की भक्ति, प्रभु की भक्ति करनी चाहिए, समस्त धर्म कार्यों में कभी प्रमाद न करना चाहिए और न कभी पापों में परिणति करना चाहिए, क्योंकि पाप के कारण नरक आदि के दुःख मिलेंगे और कदाचित् उसके बाद मोक्ष भी प्राप्त होगा, तो होगा पर दुःख भोग-भोगकर पश्चात् मोक्ष की विधि उसे लग सकेगी। और कोई व्रत करता है तो व्रत के आचरण के प्रसाद से लोक सुख के बाद उसे आत्मा की भी प्राप्ति होगी, स्वर्ग भी मिलेगा। तो व्रत करना हमेशा ही लाभदायक है।

मन के जीते जीत—भैया ! व्रत में कठिनाई कुछ नही है, केवल भाव की बात है। अपने भावो को सम्हाल लें तो काम ठीक बैठता है। मानो जाड़े के दिन है, रात्रि को प्यास न लगती होगी पर जरासी भी कुछ बात हो तो रात को भी प्यास की वेदना सी अनुभव करते और थोड़ी हिम्मत बनायी तो गर्मी के दिनों में भी रात को पानी की वेदना नही सताती। मन के हारे हार है मनके जीते जीत। जो योगी पुरुष गुरू के उपदेशानुसार आत्मा का ध्यान करते हैं उनके अनन्त शक्तिवाला आनन्द तो उत्पन्न होगा ही, पर स्वर्ग सुख भी बहुत प्राप्त होता है। जिसको उस ही भव से मोक्ष जाना है ऐसा मनुष्य जिस समय आत्मा का अरहंत और सिद्ध के रूप से ध्यान करता है उसे इस आत्मध्यान के प्रताप से मोक्ष मिलता है। न हो कोई चरम शरीरी और फिर भी वह अरहंत सिद्ध के रूप से आत्मा का ध्यान करता है उसे भी स्वर्गादिक के तो सुख मिलते ही है।

आत्मा की प्रभुस्वरूपता—अपने आपको जो लोग यह समझते हैं कि मैं अमुक लाल हूँ, अमुकचंद हूँ, ऐसे बाल बच्चे वाला हूँ, अमुक का अमुक हूं, ऐसी पोजीशन का हूं उनका संसार बढ़ता रहता है। अरे इस ही आत्मा में जो हम आप हैं वह शक्ति है कि अरहंत और सिद्ध बन सकते हैं। तो जैसी पवित्र परिणति इसकी हो सकती है उस रूप में हम ध्यान किया करें तो उत्तम परिणति हो सकती है। मैं अरहंत हूँ, वर्तमान परिणति को निरखकर न बोलो, किन्तु अपने स्वभाव पर बल देकर जिस स्वभाव का पूर्ण विकास अरहंत कहलाता है उस स्वभाव पर बल देकर अनुभव करिये। मैं अरहंत हूं, अरहंत कुछ चेतन जाति को छोड़कर अन्य जाति में नही होता है। यह ही मैं चेतन हूं और अरहंत जो हुए हैं वे भी ऐसे ही चेतन है, केवल दृष्टि के फर्क से यह इतना बड़ा फर्क हो गया। सारभूत यह है कि जिसे धर्म करना हो तो पहिले यह समझना होगा कि मैं न मनुष्य हूं न स्त्री हूँ, न इस शरीर वाला हूँ किन्तु एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं, ऐसी समझ के बिना धर्म हो ही नही सकता।

अपनी तीन जिज्ञासायें—भैया ! एक सीधी सी बात है कि जिसका मन मोह में फंसा है उसे अन्तर्ज्ञान की यह बात समझ में नही आ सकती है। वह इस बात पर ध्यान नही दे सकता है, और जिसे व्यामोह नही है,

सुनते ही के साथ उसकी समझ में आ जायगा कि यह ठीक मार्ग है। ऐसे इस आत्मा के ज्ञान को बढाये, उसकी ही दृष्टि रखें और उसकी ही दृष्टि के प्रसाद से पाप आदिक अवस्थावों को त्याग व्रत आदिक तपश्चरण आदिक धर्म की क्रियावों में लग जाय तो ऐसी निर्मलता पैदा होती है कि यह आत्मा भगवान हो जाता है। हम क्या है? हमें क्या बनना है और उसके लिये हमें क्या करना चाहिए, इन तीनों बातो का सही उत्तर ले लो तब धर्म आगे बनेगा। हम क्या है सोच लो। हम वह है जो सदा रहता है। जो नष्ट हो वह मैं नही हूं। अब यह निर्णय कर लो कि हमें क्या बनना है? हमें बनना है सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप। एतदर्थ में हमें क्या करना चाहिए? कौनसा ऐसा काम है जिसके कर लेने पर फिर काम करने को बाकी न रहे। भला काम तो वही है जिसके कर लेने पर फिर वह पूर्ण हो ही गया। अब आगे कुछ भी करने की जरूरत न रही ऐसा कौनसा काम है? पंचेन्द्रिय के विषयों के साधन जुटाना, यह तो आकुलता को बढ़ाने वाला है। करने योग्य काम तो केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने का है।

मिथ्या आशय से कर्तव्य में बाधा—दो भाई थे। वे परस्पर में एक दूसरे को चाहने वाले थे। उनमें से बडा भाई एक दिन बाजार से दो अमरूद खरीद लाया। दाहिने हाथ में बड़ा अमरूद था और बायें हाथ में छोटा अमरूद था। सामने से एक उसका लड़का और एक भाई का लड़का आ गया जो दाहिनी और था छोटे-भाई का लड़का बांई ओर था उसका लड़का । तो उसने बड़ा अमरूद अपने लड़के को देने के लिए यों हाथों का क्रास बनाकर अमरूद दिया। छोटे भाई ने इस घटना को देख लिया। उसके हृदय पर इस बात से बड़ा धक्का पहुंचा। वह कहाँ गम खाने वाला था। देखो इतनी छोटी सी बात पर छोटा भाई कहता है बड़े भाई से कि भाई अब हम अलग होना चाहते हैं, एक में नही रहेंगे। बड़े भाई ने बहुत कहा कि भैया अलग न हो, तुम चाहे हमारी सारी जायदाद ले लो। कहा—नही, हमें अलग हो जाने दो। तो यह मोह और पक्ष की बातें अच्छी नहीं होती है। अपनी आत्मा को पहिचानो और सबको एक समान मानो।

श्लोक 5

हृषीकजमनाततङ्कं दीर्घकालोपलालितम्।

नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव।।५।।

व्रत के फल में स्वर्गीय सुख—इससे पहिले श्लोक में यह बताया था कि जिस तत्त्व में दिया हुआ भाव मोक्ष को भी दे देता है तब उससे स्वर्ग कितना दूर रहा अर्थात् स्वर्ग तो बिल्कुल ही प्रसिद्ध है, ऐसी बात सुनकर कोई जिज्ञासु यह प्रश्न करता है कि उस स्वर्ग में बात है क्या? लोग स्वर्ग की बात ज्यादा पसंद करते हैं। कभी धर्म की भावना होती है तो स्वर्ग तक ही उनकी दौड़ होती है। धर्म करो स्वर्ग मिलेगा, उस स्वर्ग की बात उपसर्ग के सुख इस श्लोक में संकेत रूप के कहे जा रहे हैं। अध्यात्म में तो स्वर्गसुख हेय बताये गए है, किन्तु

व्रत का आचरण करने वाले पुरुष मोक्ष न जायें तो फिर जायेंगे कहाँ, उसे भी तो बताना चाहिए। मोक्ष न जा सके, थोड़ी कसर रह गयी भावों में तो उसकी फिर क्या गति है, उसका भी बतना आवश्यक है। जो मोक्ष न जा सका, थोड़ी कसर रह जाय शुद्धि में तो सर्वार्थसिद्धि है। विजय, वैजयंत, जयंत व अपराजित ये तो सर्वार्थ सिद्धि है, अनुत्तर है, अनुदिश है, ग्रैवेयक हैं और नही तो स्वर्ग तो छुड़ाया ही किसने है?

व्रत की नियामकता—जो व्रत धारण करता है, चाहे श्रावक के भी व्रत ग्रहण करे, मुनि व्रत ग्रहण करे, व्रत ग्रहण करने के बाद देव आयु ही बँधती है दूसरी आयु नही बंधती। व्रती पुरुष मोक्ष जाय या देव में उत्पन्न हो। और व्रत ग्रहण करने के पहिले यदि अन्य आयु बंध गयी है नरक, तिर्यंच मनुष्य तो उसके व्रत ग्रहण करने का परिणाम भी नही हो सकता है। अन्य आयु के बँधने पर सम्यक्त्व तो हो सकता है पर व्रत नही हो सकता है। अणुव्रत भी और महाव्रत भी उसके नही हो सकते जिसने नरक आयु, तिर्यंच आयु या मनुष्य आयु में से कोई सी भी आयु बाँध ली है। और जिसने देव आयु बांध ली है या तो उसके व्रत होगा या जिसने कोई आयु नही बाँधी है परभाव के लिए, उसके व्रत होगा। व्रत धारण कितनी ऊंची एक कसौटी है कि जिससे यह परख हो जाय कि देव ही होगा या मोक्ष जायगा। तो ऐसी व्रत की वृत्ति हो तो उसके फल में क्या होता है, उसका वर्णन इस श्लोक में है।

स्वर्गीय सुख का निर्देशन—स्वर्गो में क्या मिलता है, कैसा सुख है? उसके लिए कह रहे हैं कि देवों का सुख इन्द्रियजन्य है। ऐसा कहने में कुछ विशेषता नही जाहिर हुई, कुछ बड़प्पन सा नही आ पाया, इन्द्रियजन्य है, लेकिन जो इन्द्रियजन्य सुख के लोभी है उनको कुछ खटकने वाली बात भी नही होती है। देवों का सुख आतंकरहित है। बाधा, आपदा, वेदना ये सब नही है, उन देवों को न भूख की बाधा होती है, न प्यास की बाधा होती है। हजारों वर्षों में जब कभी भूख लगती है तो कंठ से अमृत झर जाता है और उनकी तृप्ति हो जाती है। अमृत क्या चीज है, जैसे अपन लोग अपने मुँह का थूक गटक लेते हैं, इससे कुछ बढ़कर है, मगर जाति ऐसी ही होगी, हमारा ऐसा ध्यान है। जब कभी अपन बडे सुख से यहाँ वहाँ की चिंता नही है। ध्यान भी बड़ा अच्छा जग गया हो ऐसी विशुद्ध स्थिति में कभी मुंह बंद हुए में एक गुटका आ जाता है तो बड़ी शान्ति और संतोष को व्यक्त करता है। और क्या होगा जो उनके कंठ में से झरता है। उन्हें प्यास की भी वेदना नही, ठंड गर्मी की वेदना नही। जो इस औदारिक शरीर में रोग होता है, वेदना होती है यह कुछ भी देवों के शरीर में नही है।

स्वर्गसुख से आत्मबाधा—भैया ! स्वर्गसुख का यह विश्लेषण सुनकर तो कुछ अच्छा लग रहा होगा पहिले विश्लेषण की अपेक्षा, लेकिन एक कानून और बताता दें, जहाँ क्षुधा, तृषा, ठंड, गर्मी की वेदना न हो वहाँ मुक्ति असम्भव है। जहाँ ये वेदनाएँ चलती है उस मनुष्य पर्याय से मुक्ति सम्भव है। इससे भी क्या कारण है? जहाँ इन्द्रियजन्य सुख की प्रचुरता है वहाँ वैराग्य की प्रचुरता नही होती है। जैसे यहाँ हम मनुष्यों में भी देखते हैं ना,

जो बड़े आराम में है, समृद्धि में है, वैभव में है ऐसे पुरुषों के वैराग्य की वृत्ति कम जगती है। वह नियम यहाँ तो नही है क्योंकि मनुष्य जाति का मन विशिष्ट ही प्रकार का है। वह सुख भोगते हुए में भी विरक्त रह सकता है, उसे परित्याग करके आत्ममग्न हो सकता है। ये देव दुःखी भी नही है और उनके सुख का जो साधन है उसका परित्याग करने में समर्थ भी नही है।

स्वर्ग सुख में लौकिक विशेषता—स्वर्ग के देवो के एक आफत यह भी लगी है कि जो बहुत छोटे देव है, उन देवो के, उनकी अपेक्षा में जो पापी देव है मान लो तो, उनके भी कम से कम ३२ देवांगनाएँ होती है। यहाँ तो एक स्त्री का दिल राजी रखने में बड़ी हैरानी पड़ती है, साड़ी, साड़ी ही खरीदने में पूरी समस्या नही सुलझ पाती है। वहाँ ३२ देवांगनावों का मन रखने के लिए कितनी तकलीफ उठाने की बात है? यहाँ तो स्त्री मनुष्य ही है ना, सो वे संतोष कर सकती है पर उन देवांगनावों के कहाँ संतोष की बात है? जब बहुत छोटे देवों का यह हाल है तो जो बडे देव है, इन्द्रादिक है उनके तो हजारों का नम्बर है। एक बात और है कि जहाँ एक देवी मरी उसी समय उसी स्थान पर कुछ समय बाद दूसरी देवी उत्पन्न होती है और वह अन्तर्मुहूर्त में ही पूर्ण जवान हो जाती है। देवों में ऐसा नियम है। तो छुटकारा होने में बड़ी कठिनाई है, लेकिन यहाँ सुख की बात बता रहे हैं कि उनके ऐसा सुख है। स्वर्ग सुखों में एक विशेषता यह भी है कि सागरों पर्यन्त, करोड़ों वर्षों पर्यन्त, दीर्घ काल तक वे सुख भोग करते हैं। वे कभी बूढ़े होते नही, सदा जवान ही रहते हैं। इन्द्रिय विषयों का सुख सदा उन देवो के प्रबल रहता है और वे सागरों पर्यन्त ऐसा ही सुख पाते हैं। देवों का सुख साधारणजनों के लिए उपादेय बन जाता है किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो शुद्ध आनन्द का अनुभवन कर चुके हैं उनमें विषयों की प्रीति नही हो सकती है।

देवों के सुख की उपमा—उन देवों का सुख किस तरह का है कुछ नाम बतावो। कोई मनुष्य उस तरह का सुखी हो तो उसका नाम लेकर बतावो। है नही ना कोई? तो यह कहना चाहिए कि देवों का सुख देवों की ही तरह है। जैसे साहित्य में एक जगह कहते हैं। कि राम रावण का युद्ध कैसा हुआ, कुछ दृष्टान्त बतावो। तो बताया है कि राम रावण का युद्ध राम रावण की ही तरह हुआ हे। अभी किसी मनुष्य की तारीफ करना हो और थोड़े शब्दों में कहना हो और बहुत बात कहना हो तो यह ही कह देते हैं कि यह साहब तो यह ही है, बस हो गयी तारीफ। इससे बढ़कर और क्या शब्द हो सकते है? इस प्रकार देवों के सुख की बात यहाँ बता रहे हैं कि स्वर्गों में देवों का सुख स्वर्गों में देवों की ही तरह है। उसकी उपमा यहां अन्य गतियों में नही मिल सकती है। यहां यह बताया जा रहा है कि व्रत पालन करने वाले पुरुष परभव में कैसा सुख भोगा करते हैं।

इस काल के पुराण पुरुषों की परिस्थिति—भैया ! न दो स्वर्ग सुखों में दृष्टि, व्रत धारण करो तो यह मिलेगा। इस पंचमकाल में जो मुनीश्वर हो चुके है—अकलंकदेव , समंतभद्र, कुन्दकुन्द आदि अनेक जो आचार्य हुए है वे बड़े विरक्त थे, तपस्वी थे और ज्ञान की तो प्रशंसा ही कौन करे? हम लोग जब उनके रचित ग्रन्थों के हृदय

में प्रवेश करे तो अनुमान कर सकते हैं, अन्यथा जैसे कहते हैं कि ऊंट अपने को तब तक बड़ा मानता है जब तक पहाड़ के नीचे न पहुंचे, ऐसे ही हम लोग अपने को तब तक ही चतुर समझते हैं और उत्कृष्ट वक्ता तब तक जानते हैं जब तक इन आचार्यों की जो रचनाएं है उन रचनाओं में प्रवेश न पाया जाय। ऐसे ज्ञानवान, चारित्रवान्, तपस्वी साधुजन बतावो अच्छा कहां होगे इस समय? गुजर तो गये हैं ना, अब तो यहां है नही वे गुरूजन, तो इस समय वे कहां होगे कुछ अंदाजा बतावो, यही अंदाज बतावोगे कि स्वर्ग में होगे। और स्वर्ग में क्या कर रहे होगे, मंडप भरा होगा, देवांगनाएँ नृत्य कर रही होगी और ये कुन्दकुन्द, समन्त भद्र आदि के जीव बने हुए देव सिर भी मटका रहे होंगे। क्या करे, व्रत धारण करने पर या तो मोक्ष होगा या स्वर्ग मिलेगा, तीसरी बात नही होती। कोई पूर्वकाल में स्वर्ग से ऊपर भी उत्पन्न हो लेते थे। हां एक बात है कि भले ही ये आचार्य वहां देव बनकर रह रहे हैं, पर वहाँ भी वे सम्यग्दृष्टि होगे तो उनमें आशक्ति न हो रही होगी, पर होंगे वहां।

सम्यक्त्व सहित मरण की नियामकता—कर्म भूमि का मनुष्य मरकर, कर्मभूमि का मनुष्य बने तो उसके मरण समय में सम्यक्त्व नही रहता है। मरण समय में जिस मनुष्य के सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्व में मरेगा तो वहाँ सम्यग्दर्शन के रहते हुए मरण होगा तो देव ही होगा, हाँ एक क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य ऐसा है कि उससे पहिले नरक आयु बाँध ली हो, तिर्यञ्च आयु बाँध ली हो या मनुष्य आयु बाँध ली हो, और फिर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया तो नारक, तिर्यंच, मनुष्य गति में जाना पड़ेगा, लेकिन नरक में जायगा तो पहिले नरक में, तिर्यंच में जायगा तो भोगभूमिया में और मनुष्य में जायगा तो भोगभूमियों में। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भोगभूमिया, तिर्यंच व मनुष्य भोग भूमिया में भी इन्द्रियजन्य सुख बहुत है।

दृष्टियोग का विशेष संकट—यहाँ सबसे बड़ा कष्ट एक यह भी है कि पुरुष स्त्री है अब उनमें काई मरेगा जरूर पहिले, मरेंगे सभी हम आप, जो भी जन्मे हैं सबका मरण होगा, पर एक प्रसंग की बात यह देखो कि पति पत्नी में आधारभूत प्रेम है, किन्तु उनमें से एक कोई पहिले तो मरेगा ही ना? अब कल्पना करो कि पति पहिले मरता तो पत्नी कितना बिलखती और पत्नी पहिले मरती तो पति कितना बिलखता, अर्थात् पति भी अपने को शून्य समझता। अब और क्या गति होगी सो बतावो? ऐसा यहाँ बहुत कठिनाई से हो पाता है कि पति पत्नी दोनों संग ही गुजरें, पर भोगभूमिया में ऐसा ही होता हे, पति पत्नी दोनों एक साथ मरते हैं। अब कुछ अंदाज हो गया ना कि यह लौकिक सुखों की बात है कि दोनों मरें तो एक साथ मरे।

मरण में हानि किसकी?—भैया ! एक बात और विचारो कि किसी के मरने पर ज्यादा नुकसान मरने वाले का होता है कि जो जिन्दा रहने वाले हैं उनका होता है? इस पर जरा कुछ तर्कणा कीजिए। परिवार का कोई एक गुजर गया और परिवार के दो चार लोग अभी जिन्दा है तो यह बताओ कि मरने वाला टोटे में रहा कि जिन्दा रहने वाले टोटे में रहे? टोटे में तो जिन्दा रहने वाले रहे क्योंकि मरने वाला तो दूसरे भव में गया,

अच्छा, नया, रंगा, चंगा, शरीर पाया और जो बचे हुए लोग है अथवा नाते रिश्तेदार जन है वे रोते हैं, बिलखते हैं। तो टोटे में तो जिन्दा रहने वाले रहे। भोगभूमि में पति पत्नी दोनों का एक साथ मरण होता है।

भोगभूमिज सुख—भोगभूमि में यह भी एक सुख की बात है। वहाँ किसी को ३ दिन में और किसी को एक दिन में भूख प्यास की वेदना रहती है। वह भी भोजन कितना करते? कोई आंवले बराबर, कोई बहेड़ा बराबर, कोई बेर बराबर। हाँ खाये हुए का सबका रस बनता है ऐसी भी सुख की बात है। तो भोगभूमि में भी ऐसा इन्द्रियजन्य सुख रहता है सम्यक्त्व सहित मरण में यदि मनुष्य होना पड़े तो ऐसे भोगभूमिज होते हैं।

व्रत परिणाम के परिणाम का प्रतिपादन—व्रती पुरुष मरने के बाद स्वर्ग के सुख भोगते हैं, व्रत धारण करना बहुत अच्छी बात है, लेकिन कोई पुरुष उस कहानी को सुनकर सोचे कि मैं व्रत ग्रहण कर लूँ, इससे स्वर्ग के सुख मिलते हैं, तो ऐसे स्वर्ग का सुख नही मिलता है क्योंकि उसके अंतरंग में ममता बसी हुई है। वह अपने आत्मकल्याण के लिए व्रत नही ले रहा है, वह तो स्वर्ग सुख पाने की धुन बनाये हुए है सो व्रत ले रहा है। वह व्रत नही है। जो ज्ञानी संत वैराग्य के कारण व्रत ग्रहण करते हैं, जिनके सहज वैराग्य बनता है, ऐसे पुरुषों की कहानी है कि वे तो मोक्ष में जायेंगे या स्वर्ग में जायेंगे। स्वर्ग में कैसा सुख है, उसकी बात इस श्लोक में चल रही है।

व्रतजनित पुण्य का फल—सुख तो एक आत्मा का गुण है। जब रागादिक होते हैं तो सुख की दशा बदल जाती है या तो हर्ष रूप संकटो का परिणमन होगा या दुःखरूप परिणमन होगा। जब तक यह आत्मा सांसरिक सुख और परतंत्रता का अनुभव करता है तब तक उसे बाधारहित आत्मीय आनन्द नही प्राप्त हो सकता है। हाँ कभी सातावेदनीय के उदय में कुछ इन्द्रिय सुख की प्राप्ति हुई, सातारूप परिणमन हुआ, अर्थात् कुछ दुःख कम हो गया तो उस दुःख के कम होने का नाम संसारी जीवों ने सुख रख लिया है। व्रत आदि करने से जो कषाय मंद होता है और मंद कषाय होने से पुण्य का संचय होता है तो उससे स्वर्ग आदि के सुख बहुत काल तक भोगने में आते हैं, लेकिन वास्तविक जो आनन्द है अनाकुलता का वह तो आत्मदृष्टि में ही है।

सांसारिक सुख की उलझन—ये सांसारिक सुख तो उलझन है, वे देव सुख में मस्त रहते हैं तो वे मरकर एकेन्द्रिय भी बन सकते हैं। उनमें नियम है कि दूसरे स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय बन सकते हैं, उससे ऊपर १२ वे स्वर्ग तक के देव पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च बन सकते हैं, उससे ऊपर के देव मनुष्य ही बन सकते हैं। देखो देवगति के देव कोई पेड़ तक बन जाते हैं, मरने के बाद ऐसी उनकी दुर्गति हो सकती है, और इतना तो समझना ही है कि वे मरकर नीचे ही गिरेंगे। आगम में देवों के मरने का नाम च्युत होना कहा गया है। देव च्युत होते हैं अर्थात् नीचे गिरते हैं और नारकी मरकर ऊपर आते हैं। उन देवों में ऐसा हृषीकज, अनातङ्क व दीर्घकालोपलालित सुख है, पर वास्तविक आनन्द नही है।

वास्तविक आनन्द—जो वास्तविक आनन्द है उसमें इन्द्रिय की आधीनता नहीं है, समय की सीमा नही है, क्षण भंगुर नही है, न किसी के प्रति चिंता है। इस आनन्द के जानने वाले पुरुष भी स्वर्ग के सुख को हेय मानते हैं और स्वानन्द के आनन्द को उपादेय मानते हैं। देवों का सुख देवों की ही तरह है, ऐसा कहने में ज्ञानियों को समाधान मिलेगा और अज्ञानियों को भी समाधान मिलेगा। अज्ञानी तो उन शब्दों में सुख का बड़प्पन समझ लेंगे और ज्ञानी उन्ही शब्दों में सुख को हेय समझ लेंगे। खैर, कैसा ही सुख ही, व्रत धारण के फल में स्वर्ग आदि के सुख मिलते हैं, इस बात का इस श्लोक में वर्णन है।

श्लोक 6

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।

तथा ह्यद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापादि।।६।।

सुख की क्षुब्ध रूपता के वर्णन का संकल्प—इससे पहिले श्लोक में देवों का सुख बताया गया था। उस सुख के सम्बंध मं अब यहाँ यह कह रहे हैं कि यह सुख संसारी जीवों का जो इन्द्रिय जनित सुख है वह सुख केवल वासना मात्र से ही सुख मालूम होता है किन्तु वास्तव में यह सुख दुःखरूप ही है। भ्रम से जीव इसको आनन्द समझते हैं। ये भोग जिनको कि सुख माना है वे चित्त में उद्वेग उत्पन्न करते हैं। कोई भी सुख ऐसा नही है जो सुख शान्ति से भोगा जाता हो। खुद भी इसका अनुभव कर लो। ये संसार के सुख क्षोभ पूर्वक ही भोगे जाते हैं। भोगने से पहिले क्षोभ, भोगते समय क्षोभ और भोगने के बाद भी क्षोभ। केवल कल्पना से मोही जीव सुख समझते हैं। आत्मा में एक आनन्द नाम का गुण है जिसके कारण यह आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप कहलाता है। उस आनन्द शक्ति के तीन परिणमन है—सुख, दुःख और आनन्द। सुख वह कहलाता है जो इन्द्रियों को सुहावना लगे, दुःख वह कहलाता जो इन्द्रियों को असुहावना लगे और आनन्द उसका नाम है जिस भाव में आत्मा में सर्व ओर से समृद्धि उत्पन्न हो।

सुख और आनन्द में अन्तर—यद्यपि सुख, दुःख और आनन्द, ये आनन्द गुण के परिणमन है, तथापि इन तीनों में आनन्द तो है शुद्ध तत्त्व, सुख और दुःख ये दोनों है अशुद्ध तत्त्व। यह इन्द्रिय जन्य सुख आत्मीय आनन्द की होड़ नही कर सकता है। स्वानुभव में जो आनन्द उत्पन्न होता है अथवा प्रभु के जो आनन्द है उस आनन्द की होड़ तीन लोक तीन काल के समस्त संसारी जीवों का सारा सुख भी जोड़ लीजिए तो भी वह समस्त सुख भी उस आनन्द को नही पा सकता है। यह सांसारिक सुख आकुलता सहित है और शुद्ध आनन्द अनाकुलतारूप है। सांसारिक सुख में इन्द्रिय की आधीनता है। इन्द्रियां भली प्रकार है तो सुख है और इन्द्रियों में कोई फर्क आया, बिगाड़ हुआ तो सुख नही रहा, किन्तु आत्मीय आनन्द में इन्द्रिय की आवश्यकता ही नही है। हृषीकज सुख पराधीन है, नाना प्रकार के विषयो के साधन जुटें तो यह सुख मिलता है, परन्तु आत्मीय

आनन्द पराधीन नही है, अत्यन्त स्वाधीन है। समस्त परपदार्थों का विकल्प न रहे, केवल स्वात्मा ही दृष्टि में रहे तो उससे यह आनन्द उत्पन्न होता है। इस इन्द्रियज सुख में दुःख का सम्मिश्रण है किन्तु आत्मीय आनन्द में दुःख की पहुँच भी नही। संसार का कोई भी सुख ऐसा नही है जिसमें दुःख न मिला हुआ है। धनी होने में सुख है। तो उसे भी कितने ही दुःख है। संतानवान होने का सुख है तो उस प्रसंग में भी कितने ही दुःख भोगने पड़ते हैं। संसार को कोई भी सुख दुःख के मिश्रण बिना नही है। सांसारिक सुख इस आनन्द के अंश भी नही प्राप्त कर सकता है।

वासनामात्र कल्पित सुख में बाधा और विषमता—भैया ! सुख और दुःख की कल्पना उस ही पुरुष के होती है जिसमें ऐसी वासना बनी हुई है कि यह पदार्थ मेरा उपकारी है इसलिए इष्ट है और यह पदार्थ मेरा अनुपकारी है इसलिए अनिष्ट है। ऐसा जब भ्रम उत्पन्न होता है तो उस भ्रम में आत्मा में जो भी संस्कार बन जाता है उसका नाम वासना है। संसारी जीव इन्हीं वासनावों के कारण इन्द्रियसुख में वास्तविक सुख की कल्पना कर लेते हैं। यह भोगो से उत्पन्न हुआ सुख अनेक बाधावों से भरा हुआ है, पर आत्मा के अनुभव से उत्पन्न होने वाला आनन्द बाधावों से रहित है। यह इन्द्रिय जन्य सुख विषम है। कभी सुख बढ़ गया, कभी सुख घट गया, कभी सुख न रहा ऐसी इन भोगों के सुख में विषमता है, परंतु स्व के अनुभव से उत्पन्न होने वाला आनन्द विषम नही है, वह एक स्वरूप है और समान है। सुख और दुःख में महान् अन्तर है। इस इन्द्रिय जनित सुख में मोहीजन भ्रम से वास्तविक सुख की कल्पना करते हैं।

सांसारिक सुखों की उद्वेगरूपता—यह ह्रषीकज सुख उद्वेग ही करता है। जैसे ज्वर आदि रोग चित्त को दुःखी कर देते हैं। ऐसे ही ये भोग भी चित्त को दुःखी कर देते हैं। मोही जन दुःखी हो जाते हैं और दुःख नही समझते हैं। जैसे चरचरी मिर्च खाने में सुख नही होता है, दुःख होता है, पर जिसे चटपटी मिर्च से मोह है वह दुःखी भी हो जाता है और मिर्च भी मांगता जाता है, और लावो मिर्च। किस तरह का उनके मिर्च का भाव लगा है? क्या करण है कि उस मिर्च से सी-सी करते जाते, आंसू भी गिरते जाते, कौर भी मुश्किल से गुटका जाता, फिर भी मांगते हैं कि लाल मिर्च और चाहिए। ऐसे ही भोग के दुःख होते हैं, इन भोगो से कुछ भी आनन्द नही मिलता है, लेकिन मोहवश भोगो में ही यह आनन्द मानता है और उन्ही भोग के साधनों को जुटाने में श्रम करता है।

परमतत्त्व के लाभ बिना कोरी दरिद्रता—जो मनुष्य भूख प्यास से पीड़ित है उन्हें सुन्दर महल या संगीत साज या कुछ भी चीज उनके सामने रख दो तो उन्हें रमणीक नही मालूम होती है। किसी को भूख लगी हो उसका स्वागत खूब किया जाय और खाने को न पूछा जाये तो क्या उसे वे स्वागत के साधन रमणीक लगते है? नही रमणीक लगते हैं। जीव के जितने आरम्भ है वे सब आरम्भ तब सुन्दर लगते हैं जब खाने पीने का अच्छा साधन हो। कोई लोग ऐसे भी है कि घर में तो खाने-पीने का कल का भी साधन नही है और अपनी चटकमटक

नेकटाई और बड़ी सज धज, शान की बातें मारते, तो जैसे इस तरह के लोग कोरे पोले हैं, उनमें ठोस बात कुछ नही है। ऐसे ही समझिये कि जिस पुरुष में ज्ञान विवेक नही है, जिस तत्त्व की दृष्टि से आनन्द प्रकट होता है उस तत्त्व की जरा भी खबर नही है और वे भोग के साधन, भारी चेष्टाएँ आदि करे तो वे अपने में पोले हैं, उन्हें शान्ति संतोष नही प्राप्त हो सकता।

सांसारिक सुखों की वासनामात्र रम्यता—यह सारा इन्द्रियसुख केवल वासनामात्र रम्य है, उस और मोह लगा है इसलिए सुखद मालूम होता है। जो पक्षी बड़ी गर्मी में अपनी स्त्री के साथ याने (पक्षिणी के साथ) भोगों में उलझ जाता है उसे धूप का कष्ट नही मालूम होता है। जब रात्रि को उस पक्षी का वियोग हो जाता है जैसे एक चकवा चकवी होते हैं उनके रात का वियोग हो जाता है, क्या कारण है, कैसी उनकी बुद्धि हो जाती है कि वे विमुख हो जाते है? तब उन पक्षियों को चन्द्रमा की शीतल किरणें भी अच्छी नही लगती। जब उनका मन रम रहा है, वासना में उलझे है तब धूप भी कष्टदायी नही मालूम होती और जब उनका वियोग हो जाय तो उस समय चन्द्रमा की शीतल किरणे भी अच्छी नही लगती। पक्षियों की क्या बात कहे—खुद की ही बात देख लो—जिसे धन संचय प्रिय है वह पुरुष धन संचय का कोई प्रसंग हो, धन आने की उम्मीद हो, कुछ आ रहा तो ऐसे समय में वह भूखा प्यासा भी रह सकेगा, धूप का भी कष्ट उठा सकेगा और भी दुःख सहन कर लेगा। और यदि कोई बड़ा नुक्सान हो जाय, टोटा पड़ जाये तो ऐसे समय में उसे बढ़िया भोजन खिलावो, और भी उसका मन बहलाने की सारी बातें करो तो भी वे सारी बातें नीरस लगती है। उनमें चित नही रमता है। तो अब बतलावो सुख क्या है? केवल वासना वश यह जीव अपने को सुखी मानता है।

परसमागम में कल्पित सुख की भी अनियतता—इस इंद्रियजन्य सुख में वासनाएँ बनाना, सुख की कल्पनाएँ बनाना बिल्कुल व्यर्थ है। वह महाभाग धन्य है जिसकी धुन आत्मीय आनंद को प्राप्त करने की हुई है। संसार के समागत समस्त पदार्थों को जो हेय मानता है, उनमें उपयोग नही फंसाता है वह महाभाग धन्य है। संसार में तो मोही, भोगी, रोगी लोग ही बहुत पडे हुए है। वे इन ही असार सुखों को सुख समझते हैं। क्या सुख है? गर्मी के दिनों में पतले कपड़े बहुत सुखदाई मालूम होते हैं, वे ही महीन कपड़े जाड़े के दिनों में क्या सुखकारी मालूम होते है? सुख किस में रहा? फिर बतलावो जो जाड़े के दिनों मे मोटे कपड़े सुहावने लगते हैं, वे कपड़े क्या गर्मी के दिनों में सुखकर मालूम होते है? सुख किसमें है सो बतलावो। जिनमें कषाय मिला हुआ है, मन मिला हुआ है ऐसे मित्र अभी सुखदाई मालूम होते हैं, किसी कारण से मन न मिले, दिल बिगड़ जाय तो उनका मुख भी नही देखना चाहते हैं।

सुख के नियत विषय का अभाव—भैया ! सुख का नियत विषय क्या है? किसको मानते हो कि यह सुख है। जो मिष्ट पदार्थ लड्डू वगैरह भूख में सुहावने लग रहे हैं, पेट भरने पर क्या वे कुछ भी सुहावने लगते है? कौन से पदार्थ का समागम ऐसा है जिससे हम नियम बना सकें कि यह सुखदायी है? मनुष्यो को नीम कड़वी लगती

है, पर ऊँट का तो वही भोजन है। ऊँट को नीम बड़ी अच्छी लगती है। कहाँ सुख मानते हो? गृहस्थो को गृहस्थावस्था में सुख मालूम होता है, पर ज्ञान और वैराग्य जग जाय तो उसे ये सब अनिष्ट और दुःखकारी मालूम होते हैं। कौनसी चीज ऐसी है जिसमें नियमरूप से सुख की मान्यता ला सके? ये सांसारिक भोग उपभोग, सांसारिक सुख सुखरूप से बन रहे थे, वे ही सब कुछ थोडे समय बाद दुःखरूप में परिणत हो जाते हैं। बहुतसी ऐसी घटनाएँ होती है। कि शादी विवाह हुआ, दो चार साल तक बडे आराम से रहे, मानो एक के बिना दूसरा जिन्दा नही रह सकता, कुछ साल गुजर जाते हैं तो लड़ाई होने लगती है, आमना सामना नही होता है, मानो तलाक सी दे देते हैं। तो कौन सी ऐसी स्थिति है जिसमें यह नियम बन सके कि यह सुखदायी स्थिति है? सब केवल वासनामात्र से सुखरूप मालूम होता है।

सुख का दुःखरूप में परिणमन—यह सुख थोडे ही समय बाद दुःखरूप परिणत हो जाता है। मान लो पति पत्नी ५०-६०-७० वर्ष तक एक साथ रहे, खूब आनन्द से समय गुजरा, पर वह समय तो आयगा ही कि या तो पति पहिले गुजरे या पत्नी पहिले गुजरे। उस ही समय वह सोचता है कि सारी जिन्दगी में जितना सुख भोगा है उतना दुःख एक दिन में मिल गया । ये सभी सुख कुछ ही समय बाद दुःखरूप मालूम होते हैं। भोजन करना बड़ा सुखदायी मालूम होता है, करते जावो डटकर भोजन तो फिर वही दुःख का कारण बन जाता है। रोग पैदा हो जाता है पेट दर्द करता है, विह्वलता बनी रहती है। संसार में भी सुख के भोगने का हिसाब सबके एकसा ही बैठ जाता है। जैसे खाने को हिसाब सबका एकसा बैठ जाता है। चाहे चार दिन खूब डटकर बढ़िया मिष्ट भोजन करलो और फिर १० दिन केवल मूंग की ही दाल खाने को मिलेगी। तो अब हिसाब में १४ दिन का एवरेज लगा लो और कोई आदमी १४ दिन रोज सात्विक भोजन करे और साधारण अल्प भोजन करे तो वह भी एवरेज एकसा ही बैठ गया। इन भोगविषयों को कोई बहुत भोग-भोग ले तो अंत में दुर्गति होती है और कोई मनुष्य इन भोगो को विवेकपूर्वक थोड़ा ही भोगता है।

वास्तविक आनन्द के लाभ का उपाय—इन भोगों में वास्तविक सुख नही है। वास्तविक आनन्द तो निराकुल परिणति में है। वह कैसे मिले? अपना स्वरूप ही निराकुल है ऐसे भान बिना निराकुलता प्राप्त नही हो सकती। अपने आपको तो गरीब समझ रहा है यह जीव और निराकुलता की आशा करे तो कैसे हो सकता है? उसे कुछ पता ही नही है कि ये जगत के बाह्य पदार्थ है, ये जैसे परिणमते हों परिणमें, उनसे मेरा कोई बिगाड़ नही है यह मैं तो स्वभाव से शुद्ध सच्चिदानन्दरूप हूं। ऐसे निज निराकुल स्वरूप का भान हो तो इस ही स्वरूप का आलम्बन करके यह निराकुलता प्राप्त कर सकता है। और यह निराकुल पद मिले तो फिर उस ही स्वरूप में स्थित रहता है। उस पद में न बुढापा है, न मरण है, न इष्ट का वियोग है, न अनिष्ट का संयोग है, न ज्वर आदिक कोई रोग है, सब संकटो का वहाँ विनाश है।

करणीय आशा—भैया ! ऐसे सुख की क्या लालसा करें जिस सुख में सुख का भरोसा ही नही है। थोड़ा सुख मिला, फिर दुःख आ गया, और इस ही सुख के पीछे दुःख आता रहता है, तो ऐसे सुख की क्यों आशा करे, तो उस आनन्द की आशा करें जिसके प्रकट होने पर फिर कभी संकट नही आता है। वह सुख कर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है आत्मा से उत्पन्न होता है, उसमें किसी भी प्रकार की बाधा नही न उसमें कोई दुःख का संदेह है, ऐसा जो आत्मीय आनन्द है उसका किसी समय तो अनुभव कर लो। घर मे, दुकान में, मन्दिर में किसी जगह हो किसी क्षण सर्व से भिन्न अपने को निरखकर अपने आपको निर्विकल्प अनुभव का कुछ स्वाद तो ले लो। इस अनुभव का स्वाद आने पर यह जीव कृतार्थ हो जायगा, इसे फिर आपत्ति न रहेगी। आपत्ति तो मोह में थी। अमुक पदार्थ यों नही परिणमा तो आपत्ति मान ली। अब जब कि तत्त्व विज्ञान हो गया है तो उसमें यह साहस है कि अमुक पदार्थ यों नही परिणमा तो बला से, वह उस ही पदार्थ का तो परिणमन है। मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा स्वभावतः कृतार्थ हूं मुझको परपदार्थ में करने योग्य काम कुछ भी नही है। यह पर में कुछ कर भी नही सकता है, ऐसा तत्त्वज्ञान हो जाने पर, आत्मीय रस का अनुभव हो जाने पर फिर इसे कहाँ संकट रहा? संकट तो केवल अपनी भ्रमभरी कल्पना में है।

सांसारिक सुख में आस्था की अकरणीयता—इस श्लोक से पहिले श्लोक में व्रतों का फल बताने के लिए देवो के सुख की प्रशंसा की गयी थी, लेकिन प्रयोजन प्रदर्शन वश भी की गई झूठी प्रशंसा कब तक टिक सकती है? इसके बाद के श्लोक में यह कहना ही पड़ा कि वह सारा सुख केवल वासना भर का है, वास्तव में वह चित्त को उद्वेग ही करने वाला है। ऐसे सुख मे आस्था न रखकर एक सच्चिदानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्व में उपयोग को लगाना ही श्रेयस्कर है।

श्लोक 7

मोहेन संवृत्तं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।

मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।७।।

मोही का अविवेक—मोह से ढका हुआ ज्ञान पदार्थों के यर्थाथ स्वभाव को प्राप्त नही कर पाता है अर्थात् स्वभाव को नही जान सकता है, जैस कि मादक कोदो के खाने से उन्मत्त हुआ पुरुष पदार्थ का यथावत भाग नही कर पाता है जैसे मादक पदार्थों पान करने से मनुष्य का हेय का और उपादेय का विवेक नष्ट हो जाता है, उसे फिर पदार्थ का सही ज्ञान नही रहता। जैसे पागल पुरुष कभी स्त्री को माँ और मां को स्त्री भी कहता है और किसी समय माँ को माँ भी कह दे तो भी वह पागल की ही बात है, इसी तरह मोहनीय कर्म के उदयवश यह जीव भी अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है, उसे हेय और उपादेय का सच्चा विवेक नही रहता

है। जो अपनी चीज है उसको उपादेय नही समझ पाता, जो परवस्तु है उसको यह हेय नही समझ पाता। उपादेय को हेय किए हुए है और हेय को उपादेय किए हुए है।

अमीरी और गरीबी—भैया ! अपने स्वरूप का यथावत भान रहे, उसकी तरह जगत में अमीर कौन है? जिसको अपने स्वरूप का भान नही है उसके समान लोक में गरीब कौन है। गरीब वह है जिसके अशांति बसी हुई है और अमीर वह है जिसके शान्ति बसी हुई है। धन सम्पदा पाकर यदि अशान्ति ही बस रही है, उस सम्पदा के अर्जन मे, रक्षण में या उस सम्पदा के कारण गर्व बढ़ाने में अशान्ति बनी हुई है तो उस अशान्ति से तो वह गरीब ही है। अमीर वह है जिसे शान्ति रहती है। शान्ति उसे ही रह सकती है जो पदार्था का यथावत ज्ञान करता है। जो पुरुष अपने से सर्वथा भिन्न धन वैभव सम्पदा के स्त्री पुत्र मित्र आदिक में आत्मीयत्व की कल्पना कर लेता है, यह मैं हूं, यह मेरा है, इस तरह का भ्रम बना लेता है, दुखःकारी सुखों को, भोगों को भी सुखकारी मान लेता है तो उसे फिर यह अपना आत्मा भी यथावत् नही मालूम हो सकता। यह मोही जीव को अपना आत्मा नाना रूपों प्रतिभासित होता है, मैं अमुक का दादा हूं, पिता हूँ, पुत्र हूँ, इस कल्पना में उलझकर अपने स्वरूप को भुला देता है।

मोह में विचित्ररूपता—यह मोही जीव अपने को यथार्थ एकस्वरूप निरख नही पाता। मोहवश यह अपने को न जाने किन-किन रूप मानता है? जब जैसी कल्पना उठी तैसा मानने लगता है। जैसे डाक के सम्बन्ध से दर्पण में अनेकरूप दिखने लगते हैं, लाल कागज लगावो तो वह मणि लाल दिखती है, उसके पीछे लाल-हरा जैसा कागज लगावो तैसा ही दिखने लगता है। ऐसे ही नाना विभिन्न कर्मों का सम्बंध आत्मा के साथ है। सो जिस-जिस प्रकार का सम्बंध है उससे आत्मा नाना तरह का दिखता है, लेकिन जैसे उस स्फटिक मणि से उपाधि हटा दी जाय तो जैसा वह स्वच्छ है तेसा ही व्यक्त प्रतिभास में आता है। ऐसे ही जब आत्मा से द्रव्यकर्म का भावकर्म का सम्बंध छूटता है तो वह अपने इस शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, फिर उसे यह चैतन्यस्वरूप अखण्डस्वरूप अनुभव में आता है।

अचरजभरा बन्धन—देखो भैया ! कितनी विचित्र बात है कि यह आत्मा तो आकाशवत् अमूर्त है। इस आत्मा में किसी परद्रव्य का सम्बन्ध ही नही होता, लेकिन कर्मों का बन्धन ऐसा विकट लगा हुआ है ऐसा एक क्षेत्रावगाह है, निमित्तनैमित्तिक रूप तत्रता है कि आत्मा एक भव छोड़कर दूसरे भव में भी जाय तो वहाँ भी साथ ये कर्म जाते हैं। यह क्यों हो गया कर्मबन्धन इस अमूर्त आत्मा के साथ? देख तो रहा है, अनुभव में आ तो रहा है यह सब कुछ, यही सीधा प्रबल उत्तर है इसका। मैं ज्ञानमय हूँ इसमें तो कोई संदेह ही नही, जो जाननहार है वह ही मैं हूं। अब कल्पना करो कि जाननहार पदार्थ रूपी तो हो नही सकता। पदार्थ को किस विधि से जाने, कुछ समझ ही नही बन सकती है। पुद्गल अथवा रूपी जानन का काम नही कर सकता है वह तो मूर्तिक है, रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिंड है, उसमें जानने की कला नही है, जाननहार यह मैं आत्मा अमूर्त

हूं। इसमें ही स्वयं ऐसी विभावशक्ति पड़ी हुई है कि परउपाधि का निमित्त पाये तो यह विभावरूप परिणमने लगता है और विभाव का निमित्त पाये तो कार्माणवर्गणा भी कर्मरूप हो जाती है, ऐसी इसमें निमित्तनैमित्तिक बन्धन है।

मूर्च्छा की पद्धति—यह ज्ञान मोह से मूर्छित हो जाता है। कैसे हो जाता है मूर्छित? तो क्या बताए। उसकी तो नजीर ही देख लो। कोई पुरुष मदिरा पी लेता है। तो वह क्यों बेहोश हो जाता है? उसका ज्ञान क्यों मूर्छित हो जाता है? क्या सीसी की मदिरा ज्ञान के स्वरूप में घुस गयी है? कैसे वह ज्ञान मूर्छित हो गया है, कुछ कल्पना तो करो। यह कल्पना निमित्तनैमित्तिक बंधन है, वहां यह कहा जा सकता है कि उस मदिरा के पीने के निमित्त से ज्ञान मूर्छित नही होता है किन्तु पौद्गलिक जो द्रव्येन्द्रियाँ है वे द्रव्येन्द्रियाँ मूर्छित हो गयी है। जैसे डाक्टर लोग चमड़ी पर एक दवा लगा देते हैं जिससे उतनी जगह शून्य कर दे, ऐसे ही मदिरा आदि का पान इन्द्रियों को शून्य कर देने में निमित्त है, वह ज्ञान को बिगाड़ने मे निमित्त नही है। अच्छा न सही ऐसा, वह मदिरा द्रव्येन्द्रिय के बिगाड़ने में ही निमित्त सही, पर द्रव्येन्द्रिय बिगड़ गयी तो वह तो निमित्त है ना ज्ञान के ढकने का, मूर्छित होने का और बिगड़ने का। ऐसे ही सही, पर मदिरापान होने से यह ज्ञान मूर्छित हो गया है। फिर यह मोहनीय कर्म तो बहुत सूक्ष्म और प्रबल शक्ति रखने वाला है। उसके उदय का निमित्त पाकर यह ज्ञान मूर्छित हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नही है । ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है। मदिरा जैसे बोतल में रक्खी हुई है तो उसे पीने वाले पुरुष के ज्ञान को मूर्छित करने में वह मदिरा निमित्त है, बोतल को मूर्छित कर देने में निमित्त नही है। उस काँच में मूर्छित होने के शक्ति, कला व योग्यता नही है। तो वहाँ भी यह देखा जाता कि जो मूर्छित हो सकता है वह मदिरा के निमित्त से मूर्छित हो सकता है। इसी तरह कर्मों के उदय के निमित्त से मूर्छित हो सकने वाले पदार्थ ही मूर्छित हो सकते हैं। शराब पीने से ज्ञान की मूर्छित हुई दशा में मस्त पुरुष को जैसे हेय और उपादेय का विवेक नही रहता है ठीक इसी तरह जो आत्मा मोह में ग्रस्त है वह अपने स्वरूप से गिर जाता है और नाना प्रकार के विकारी भावो में घिर जाता है, कर्मों से बँध जाता है।

विडम्बनाओं के विनाश का सुगम उपाय—जैसे बहुत बड़ी मशीन के चलाने और रोकने का पेंच एक ही जगह मामूली सा लगा है, कमजोर पुरुष भी दबा और उठा सकते हैं, चला सकते हैं, बन्द कर सकते हैं, ऐसे इतनी बड़ी विडम्बना संसार में हो रही है, जन्म हो, मरण हो, जीवनभर अनेक कल्पनाएँ की, अनेक कष्टों का अनुभव किया, इतनी सारी विडम्बनाएँ है किन्तु उन सब विडम्बनावों के विनाश का उपाय केवल एक अपने आपके सहज स्वरूप का अनुभवन है, दर्शन है। इसके प्रताप से भावकर्म भी हटते हैं, द्रव्य कर्म भी हटते हैं, और यह शरीर भी सदा के लिए पृथक हो जाता है। सर्व प्रकार का उद्यम करके अपन सबको करने योग्य काम एक यह ही है कि अपने सहजस्वरूप का अवलोकन करे, दर्शन करे, अनुभवन करे, उसमें ही अपने उपयोग को लीन करके सारे संकटो से छुटकारा पाये।

कर्मबन्धन की अनादिता—यह आत्मा परमार्थतः अपने स्वरूपमात्र है, लेकिन अनादिकाल से यह कर्मबंधन से ग्रस्त है, विषय कषाय के विभावों से मलिन है, इस कारण इन मूर्त कर्मों से वह बंधन को प्राप्त हो रहा है। कब से इस जीव के साथ कर्म लगे है और कब से इस जीव के साथ रागद्वेष लगे है इसका कोई दिन मुकर्रर किया ही नही जा सकता है, क्योंकि रागद्वेष जो आते हैं वे कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आते हैं। कर्मों का उदय तब हो जब कर्म सत्ता में हो। कर्म सत्ता में तब हो जब कर्म बँधे, कर्म तब बँधें जब रागद्वेष भाव हो तो अब किसको पहिले कहोगे? इस जीव के साथ पहिले कर्म हैं पीछे रागद्वेष हुए? ऐसा कहोगे क्या? अथवा इस जीव के साथ रागद्वेष तो पहिले थे पीछे कर्म बँधे? ऐसा कहोगे क्या? दोनों में से कुछ भी नही कह सकते।

द्रव्यकर्म व भावकर्म में किसी की आदि मानने में आपत्ति—यदि जीव में रागद्वेष पहिले थे, कर्म पीछे बँधे तो यह बतावो कि वे रागद्वेष जो सबसे पहिले थे वे हुए कैसे? यदि जीव में अपने आप सहज हो गए तो यह जीव कर्मों से छूटने के बाद एक बार वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा होने के बाद भी अगर यो ही सहज रागद्वेष आ गए तो ऐसी मुक्ति का क्या करें कि जिसमें किसी प्रकार एक बार संकट से छूट पाये थे और अब संकट से घिर गये, इस कारण यह बात नही है कि जीव में रागद्वेष पहिले थे, कर्मबंध न था, रागद्वेष के कारण फिर कर्म बंधना शुरू हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा कहेंगे कि जीव के साथ कर्म बंध पहिले था, उसके उदय में ये रागद्वेष हुए है। तो यह बतलावो कि जब जीव में सबसे पहिले कर्म बंध था, तो वह कर्म बंध हो कैसे गया? किस कारण से हुआ या बिना कारण के हुआ। किस कारण से हुआ यह तो कह न सकेंगे इस प्रसंग में क्योंकि सबसे पहिले कर्म बंध जायेंगे तो फिर इससे संसार में रूलना होगा, फिर मुक्ति का स्वरूप ही क्या रहा, इससे न भावकर्म ही सर्वप्रथम हुआ कह सकते और न द्रव्य कर्म को ही सर्वप्रथम हुआ कह सकते।

द्रव्यकर्म व भावकर्म की अनादिता पर दृष्टान्त—द्रव्यकर्म, भावकर्म की अनादिता समझने के लिये एक दृष्टान्त लो—आम के बीज से आम का पेड़ उगता है, आप सब जानते हैं और आम के पेड़ से आम का बीज उत्पन्न होता है। आम के फल के बीज से आम वृक्ष हुआ, आम वृक्ष से आम का फल हुआ तो आप अब यह बतलावो कि वह लगा हुआ फल कहाँ से आया? आम के पेड़ से और वह आम का पेड़ कहाँ से आया? आम के फल से और वह आम का फल कहाँ से आया? आम के वृक्ष से, इस तरह बोलते जावो, कहानी पूरी हो ही नहीं सकती। कोई फल ऐसा नही था जो कभी पेड़ से न हुआ था और कोई पेड़ ऐसा नहीं था जो कभी बीज से न हुआ था। तो जैसे बीज और वृक्ष इन दोनों की परम्परा अनादि से चली आ रही है उसमें किसे पहिले रक्खोगे, ऐसे ही जीव और कर्म का एक सम्बंध कि कर्म से रागद्वेष हुए, रागद्वेष से कर्म बँधे, यह सम्बंध अनादि से चल रहा है। अच्छा बतावो आज जो बेटा है वह किसी पिता से हुआ ना, और वह पिता अपने पिता से हुआ। क्या कोई ऐसा भी पिता किसी समय हुआ होगा जो बिना पिता के आकाश से टपककर आया हो या यह

किसी और तरह पिता हुआ हो, बुद्धि में नहीं आता ना। तो जैसे यह संतान अनादि है इसी प्रकार यह जीव और कर्म का सम्बंध भी अनादि है।

द्रव्यकर्म व भावकर्म के अनादि सम्बन्ध होने पर भी विविक्ता—भैया ! जीव और कर्म का बन्धन अनादि फिर भी ये दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न है, और ऐसा उपयोग बन जाय सही तो कर्म जुदा हो सकते हैं और आत्मा केवल विविक्त हो सकता है। जैसे खान में जो सोने की खान है वहाँ स्वर्ण पाषाण निकलता है उसमे वह स्वर्ण किस समय से बना हुआ है? ऐसा तो नही है कि पहिले वहाँ अन्य किस्म का कोरा पत्थर था, पीछे स्वर्ण उसमें जड़ाया गया हो? वह पाषाण तो ऐसा ही स्वर्णपाषाण रहा आया है, उस पाषाण में स्वर्ण का सम्बंध चिरकाल से है, जबसे पाषाण है तब से ही है, लेकिन उसे तपाया जाय या जो प्रक्रिया की जाती है वह की जाय तो वह स्वर्ण उस पाषाण से अलग हो जाता है। जैसे तिल में तैल बतावो किस दिन से आया है, क्या कोई नियम बना सकते हो कि कबसे आया? वह तो व्यक्तरूप से जब से तिल का दाना शुरू हुआ है, बना है तब से ही उसमें तैल है। तो जब से तिल है तब से उस दाने में तैल है। रहे आवो शुरू से दोनों एकमेक, लेकिन कोल्हू में पेले जाने के निमित्त से तिल अलग नजर आता है और तेल अलग नजर आता है, ऐसे ही ये जीव और कर्म दोनों अनादि से बद्ध है लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के प्रताप से यह जीव विविक्त हो जाता है और ये सब कर्म और नोकर्म जुदे हो जाते हैं। जब यह जीव द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों से मुक्त हो जाता है, फिर कभी भी कर्मों से नही बँधता।

परिस्थिति और कर्तव्यशिक्षा—यहां यह बतला रहे हैं कि जब यह कहा गया था कि ये सुख केवल वासना मात्र है, ये हैं नही, परमार्थतः तो स्वभाव ही अपना है। तो फिर यह जीव इस परमार्थ भूत स्वभाव को क्यों नही प्राप्त कर लेता है, इस आशंका के समाधान में यह बताया गया है कि मोह के उदय से यह आत्मा अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है, विवेक फिर नही रहता। विवेक न रहने के कारण पदार्थ का स्वरूप यथार्थ परिज्ञान नही हो पाता है। जब अपना अंतस्तत्त्व न जान पाया जो यह बाह्य उपयोगी रहा, बहिरात्मा रहा, वहाँ ये परपदार्थ में यह मेरा है, यह मैं हूँ, ऐसी विधि से कल्पना बनाता रहा। अज्ञान दशा में यह बहिरात्मा दशा जब तक रहती है तब तक यह ज्ञानी अंतस्तत्त्व का ज्ञान नहीं कर पाता, इस कारण मिथ्यात्व त्यागकर ज्ञानी होकर परमात्मपद का साधन करना चाहिए। इससे इस मिथ्या सुख दुःख से परे शुद्ध आनन्द प्रकट हो जायेगा।

श्लोक 8

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।।८।।

मूढ़मान्यता—मोह से मूर्छित हुआ यह अज्ञानी प्राणी कैसा बाह्य में भटकता है कि जो-जो पदार्थ सर्वथा अपने से भिन्न स्वभाव वाले हैं उन परपदार्थों को यह मैं हूं इस प्रकार मानता फिरता है। शरीर घर, धन, स्त्री, पुत्र मित्र और कहां तक कहा जाय, शत्रु को भी मोही जीव अपना मानता है। कहते हैं कि यह मेरा शत्रु है, उसे अपना माना है।

शरीर क्या—जो शीर्ण हो, जीर्ण हो, गले उसका नाम शरीर है, यह तो संस्कृत का शब्द है, उर्दू में भी शरीर कहते हैं। जिसका प्रतिकूल शब्द है शरीफ। शरीफ का है अर्थ सज्जन, उससे उल्टे शरीर का दुर्जन, बदमाश। तो यह शरीर-शरीर है, दुर्जन है, बदमाश है, इससे कितना ही प्रेम करो, कितना ही खिलावो, कितना ही तेल फुलेल लगावो, कितनी ही सेवा करो, यह जब फल देता हे। तो बदबू पसीना आदि ऐब देता है। ये जितनी मूर्तियाँ दिखती है हम आपको ये सब बड़ी अच्छी देवतासी साफ सुथरी दिख रही है, सिर में तेल लगा है, बड़ा श्रृंगार है, कपड़े भी चमकीले हैं, किसी का चद्दर श्रृंगार है, किसी का कोट। सजे-धजे देवता से सब बैठे है, पर ये सब भरे पूरे किस चीज से है उसका भी दर्शन कर लो। अपनी ग्लानि अपने को जल्दी मालूम हो सकती है और दूसरे की भी। मोही जीव इस शरीर को अपना मानते हैं।

शरीर सेवा का कारण—जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं वे भी इस शरीर की सेवा करते हैं, वे भी स्वस्थ रहने के उपाय बनाते हैं, संयत भोजन करते, संयमित दिनचर्या करते, सब कुछ स्वास्थ्य ठीक रखने का प्रोग्राम रखते हैं लेकिन शरीर की यह सेवा अपना मोह पुष्ट करने के लिए नही करते किन्तु इस शरीर को सेवक समझ कर इस शरीर से कुछ अपने आत्मा की नौकरी लेना है, कुछ आत्मा का हित करना है, केवल इस हितभाव से शरीर की सेवा करते हैं।

शरीर की अस्वता—यह शरीर ममत्व के लायक नही है, यह अपने से अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाला है। मैं चेतन हूं, यह शरीर अचेतन है, इसको जो आपा मानता है उसी को तो बहिरात्मा कहते हैं। जो पुरुष इस शरीर को और आत्मा को एक मानता हे वह अज्ञानी है। कितने शरीर पाये इस जीव ने ? अनन्त सबको छोड़कर आना पड़ा। उसी तरह का तो यह शरीर हैं। कितने समय तक रहेगा शरीर? आखिर इसे भी छोड़कर जाना होगा। जिसका इतना मोह कर रहे हैं यह शरीर कुटुम्बियों द्वारा, मित्रजनों द्वारा जला दिया जायगा। इसको क्या अपना मानना? क्या इस शरीर की सेवा करना? अपने अंतर में सावधानी बनाये रहो कि मैं शरीर नही हूँ यह मूढ़ जीव ही इस शरीर को अपना बनाए फिरता है।

मूढ़ का गृह—घर का नाम है गृह । गृह उसे कहते हैं जो ग्रह ले, पकड़ ले या जो ग्रहा जाय पकड़ा जाये। यह मोही जीव जिसको पकड़कर रहे उसका नाम गृह हे। आप जिस घर के हैं कुछ कामवश घर छोडकर १० साल भी बाहर रहे तो भी जब सुध आती है तो आप फिर अपने घर आ जायेंगे उसी का नाम घर है। ऐसे ही

गृहिणी है। गृह और गृहिणी ये दोनों जकड़ी जाने वाली चीजें है। प्रयोजनवश कितना भी दूर रह जायें पर गृह और गृहिणी ये दोनों नही छूटते हैं। किन्तु विरक्त ज्ञानी हो तो ये छूटते हैं, इस जीव का ज्ञानानन्दस्वरूप है, किन्तु मोही जीव विकट जकड़ा हुआ है इस गृह से। इस गृह को मूर्ख जीव मानते हैं कि यह मेरा है। घर तो इस आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही भी नही है घर तो प्रकट अचेतन घर को भी यह मोही जीव अपना मानता है। कभी यह जिज्ञासा हो सकती है तो फिर क्या करे। क्या घर छोड़ दे। अरे भैया ! छोड़ो अथवा न छोड़ो— छोड़ दो तो भी कुछ संकट नही है और न छोड़ सको कुछ काल तो भी कुछ मिथ्यात्व नही आ गया है, लेकिन सत्य बात जो है उसका प्रकाश तो रहना चाहिए। यह घर मेरा कुछ नही है।

धन—धन की भी निराली बात है। धन में परिजन को छोड़कर सब कुछ आ गये। सोना चाँदी, रूपया पैसा, गाय-भैस सभी चीजें आ गयी। ये सब भी प्रकट जुदे है। लेकिन कल्पना में ऐसे बसे हुए है कि ज्ञानप्रकाश के लिए भी कुछ ख्याल नही आता । छोड़ने की बात तो दूर रहो, पर किसी समय कुछ हिचकता भी नही धन की कल्पना करने मे, इस धन से भिन्न अपने को यह मोही नही मान पाता है।

स्त्री—यह भी एक भिन्न जीव है, सबके अपने-अपने कर्म है सबके अपने-अपने कषाय है। कषाय से कषाय मिल रही है इस कारण परस्पर में प्रेम है। जिस घर को पुरुष आबाद रखना चाहता है उस ही घर को स्त्री भी आबाद रखना चाहती है, एक सी कषाय मिल गयी और उसके प्रसंग में प्रत्येक बात में भी प्रायः एक सी कषाय मिल गयी है। जब दोनों उद्देश्य एक हो जाते हैं तो कषाय अनुकूल हो ही जाती है। किसी एक काम को मिलजुलकर करने की धुन बन जाय 5 आदमियों की भी तो उन पाँचों की इच्छा कषाय एक सी अनुकूल हो जायगी और फिर उस अनुकूलता में एक दूसरे के लिए श्रम करते रहेंगे।

दारा, भार्या, कलत्र—यहाँ स्त्री को दारा शब्द से कहा गया है। हिंदी में लोग दारी-दारी कहा करते हैं। गाली के रूप में यह शब्द बोला जाता है। यह रिवाज यहाँ चाहे न हो पर देहातों में अधिक है। दारा का अर्थ है दारयति भ्रातृन् इति दारा, जो भाई-भाई को लड़ाकर जुदा कर दे। स्त्री का नाम दारा भी है। उस शब्द में ही यह अर्थ भरा है। यद्यपि यह रिवाज हो गया है कि बड़े हो गए तो अब जुदे-जुदे होना चाहिए, मगर बड़े हो जाने से जुदा कोई नही होता। विवाह होने से स्त्री होने से फिर जुदेपन की बात मन में आती है तो उस जुदेपन के होने का कारण स्त्री है ना इसलिए उसका नाम दारा रक्खा गया है। स्त्री का भार्या भी नाम है। जो अपनी जिम्मेदारी समझकर घर को निभाये उसे भार्या कहते हैं। कलत्र भी कहते हैं। कल कहते हैं शरीर को और त्र मायने है रक्षा करने वाला। पति के शरीर की रक्षा करे, पुत्र के शरीर की रक्षा करे और खाना देकर सभी के शरीर की रक्षा करती है इसलिए उसका नाम कलत्र है, इसे यह मूढ़ जीव अपना मानता है।

स्त्री की पति से विविक्ता—स्त्रीजन पुरुषों के विषय में सोच लों कि वे पति को अपना समझती है व्यवहार में चूँकि एक उद्देश्य बना है और कषायें मिल रही है इस कारण मिल जुलकर रहा करती है तिस पर भी ऐसा नही है कि पुरुष की इच्छा से स्त्री काम करती हो, स्त्री की इच्छा से पुरुष काम करता हो, यह त्रिकाल हो ही नही सकता है। सब अपनी-अपनी इच्छा से अपना-अपना काम करते हैं। मिलजुल गयी इच्छा और कषाय, पर प्रेरणा सबको अपनी-अपनी इच्छा की ही मिली हुई है, ये मोही जीव ऐसे परजनों को अपना मानते हैं।

पुत्र—व्यामोही पुरुष को अपना मानते हैं। पुत्र किसे कहते है? जो कुल को बढ़ाये पवित्र करे। इस आत्मा का वंश है चैतन्यस्वरूप। इस चैतन्यस्वरूप को पवित्र करने वाला, वृद्धिगत करने वाला तो यह ज्ञान परिणत स्वयं का आत्मा हे इसलिए यह मेरा तत्त्व ज्ञान ही वस्तुतः मेरा पुत्र है जो चैतन्य कुल को पवित्र करे। यहाँ कौन सा कुल अपना है? आज इस घर में पैदा हुए है तो इस घर के उत्तरोत्तर अधिकारी बनते जायें ऐसा कुल मान लेते हैं पर यहाँ के मरे कहाँ पहुँचे ३४३ घनराजू प्रमाण लोक में न जाने कहाँ-कहाँ जन्म हो जाय, क्या रहा फिर यहाँ का समागम? सब मोह की बातें है। पुत्र का दूसरा नाम है सुत। सुत उसे कहते हैं जो उत्पन्न हो, इसी से सूतक शब्द बना है। कही ऐसी प्रथा है कि जन्म के १० दिनों को सौर कहते हैं और मरे के १२ दिनों को सूतक के दिन कहते हैं, मगर सूतक नाम उत्पन्न होने का है, जन्म में कहते हैं सूतक और मरने में कहते पातक। किसी के यहाँ बच्चा पैदा हुआ हो और जाकर कह दो कि अभी इनके यहाँ सूतक है तो वह बुरा मान जाता है, वह सोचेगा कि हमारे घर में किसी का मरना सोचते हैं क्योंकि मरे पर सूतक कहने का रिवाज हो गया है। पर ऐसा नही मरे को पातक और पैदा होने को सूतक कहते हैं। चाहे कुपूत हो, चाहे सुपूत हो सब सुत कहलाते हैं।

लौकिक मित्र—संसार के दोस्तों की बात देख लो—एक कहावत है कि आप डूबते पांड़े तो डूबें जजमान। गिरते हुए को एक धक्का लगा देते हैं ऐसी परिभाषा है दोस्तों की। कोई यह घटाते हैं कि जो दोस्त होते हैं वे अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दोस्त होते हैं, ठीक है, यह भी अर्थ है पर अध्यात्म में यह अर्थ लेना कि जो जिगरी मित्र है, हार्दिक मित्र है, निष्कपट है, संसार की दृष्टि में वह बिल्कुल स्वच्छ हृदय का है तो भी सिवाय मोहगर्त में गिराने के और करेगा क्या वह? मित्र लोग विषयों के साधन जुटाने के लिए, संसार के गड्ढों में गिराने के लिए, संसार के संकटो में भटकाने के लिए होते हैं। परमार्थ से तो अपने मित्र है देव शास्त्र और गुरु। देव, शास्त्र, गुरु के सिवाय दुनिया में कुछ मित्र नही है। जैसे मित्र जन प्रसन्न हो गए तो क्या करा देंगे? ज्यादा से ज्यादा दुकान करा देंगे, विवाह करा देंगे, तृष्णा की बातें लगा देंगे। चाहिए तो वही पाव डेढ़ पाव अन्न और दो मोटे कपड़े और तृष्णा ऐसी बढ़ जायगी कि जिसका अंत ही नही आता। कितने ही मकान बन जाये, कितना ही धन जुड़ जाय, कितने ही धन आने के जरिये ठीक हो जाये तिस पर भी तृष्णा का अंत नही आता। कभी यह नही ख्याल आता कि जो भी मिला है वही आवश्यकता से अधिक है। तो मोह में मित्र जन

क्या करेंगे; तृष्णा बढ़ाने का काम करते हैं और संसार के गड्ढे में गिराते हैं। यह मूढ जीव मित्र को भी अपना मानता है।

शत्रु—यह व्यामोही शत्रु को भी अपना मानता है। देखिये विचित्रता कि यह अज्ञानी प्राणी शत्रु का ध्वंस करना चाहता है। शत्रु इसके लिये अनिष्ट बन रहा है, किन्तु मिथ्यात्व भाव की परिणति कैसी है कि शत्रु के प्रति भी यह मेरा शत्रु है, इस प्रकार अपनत्व को जोड़ता है। शत्रु को मिटाने के लिये अपनत्व को जोड़ रहा है। हद हो गई मिथ्यात्व की यह मोही जीव मोह की बेहोशी में यह मेरा शत्रु है ऐसा मानता है।

मोह में भूल—भैया ! मोह के उदय में यही होता है। अपने स्वरूप को भूलकर अपने भले बुरे का कुछ भी विवेक न रखकर बाहरी पदार्थों मे अपनी तलाश करते हैं, मैं कौन हूं, मेरा क्या स्वरूप है, मुझे क्या करना चाहिए? जिन समागमों में पड़े हुए हो उन समागमों से, परपदार्थों से तुम्हारा कुछ सम्बंध भी है क्या? किसी की भी चिंता नही करता है। ये सभी पदार्थ मेरी आत्मा से भिन्न है। इन पदार्थों में से किस पदार्थ में झुककर शांति हासिल कर ली तो बतावो? पर के झुकाव में शान्ति हो ही नही सकती, क्योंकि पर की और झुकाव होना यह साक्षात् अशान्ति का कारण है। ये सर्व भिन्न स्वभाव वाले हैं फिर इन्हें मैं क्यों अपना मान रहा हूं ऐसी चित्त में ठेस इस जीव के मोह में हो नही पाती है। क्योंकि इसने अपने इस शरीर पर्याय को ही आपा मान लिया है। जब मूल में ही भूल हो गयी तो अब जितना भी यह अपने गुजारे का विस्तार बनायेगा वह सब उल्टा ही विस्तार बनेगा।

भूल पर भूल—देह को ही जीव आत्मा समझते हैं, उनके उपयोग का जितना विस्तार बढ़ेगा वह सब कुमार्ग का विस्तार बढ़ेगा। घर मे रसोई में चावल शाक आदि बनाने की जो भगोनी है, पतेली है वे किसी कोने मे दस पाँच इकट्ठी लगानी है तो चूँकि जगह कम घिरे इसलिए एक के ऊपर एक क्रम से लगाते हैं। तो नीचे की पतेली यदि औंधी कर दी है तो ऊपर जितनी भी पतेली रखी जावेंगी वे सब औंधी ही रखी जा सकेगी, सीधी नही, और नीचे की पतेली यदि सीधी रखी है तो ऊपर की सभी पतेली सीधी ही रखी जा सकेगी, औंधी नही। यो ही प्रारम्भ में उपयोग यदि सही है तो विकार विस्तार भी सही रहेगा और मूल मे ही यदि भूल कर दी तो अब जितने भी विकार होगे, श्रम होगे वे सब उल्टे ही उल्टे हो जायेंगे। यह मूढ़ जीव पर्याय व्यामोह के वश हुआ इन समस्त पदार्थों को अपना मानता है। ये सब विडम्बनाएँ इस निज आत्मास्वरूप को न जानने के कारण है।

श्लोक 9

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।

स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे।।९।।

क्षण संयोग का पक्षियों के दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—जैसे पक्षीगण नाना देशों से उड़ करके शाम के समय पेड़ पर बैठ जाते हैं, रात्रिभर वहाँ बसते हैं, फिर वे अपने-अपने कार्य के वश से अपने कार्य के लिए प्रभात होते ही चले जाते हैं इस ही प्रकार ये संसार के प्राणी, हम और आप अपने-अपने कर्मोदय के वश से नाना गतियों से आकर एक स्थान पर, एक घर में इकट्ठे हुए है, कुछ समय को इकट्ठे होकर रहते हैं, पश्चात् जैसी करनी है, जैसा उदय है उसके अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में चले जाते हैं।

क्षण संयोग पर यात्रियों का दृष्टान्त—ऐसी स्थिति है इस संसार की जैसे यात्री गण किसी चौराहे पर कोई किसी दिशा से आकर कोई किसी दिशा से आकर मेले हो जायें तो वे कितने समय को मेले रहते हैं। बस थोड़ी कुशल क्षेम पूछी, राम-राम किया, फिर तुरन्त ही अपना रास्ता नाप लेते हैं। ऐसे ही भिन्न-भिन्न गतियों से हम और आप आये हैं, एक महल में जुड़ गये हैं, कोई कही से आया कोई कही से, कुछ समय को इकट्ठे है जितने समय का संयोग है उतना समय भी क्या समय है? इस अनन्तकाल के सामने इतना समय न कुछ समय है। ऐसे कुछ समय रहकर फिर बिछुड़ जाना है फिर किसी से राग करने में क्या हित है?

क्षण भंगुर जीवन में वास्तविक कर्तव्य—भैया ! थोड़े अपने जीवन में भी देख लो। जो समय अब तक गुजर गया है सुख में, मौज में वह समय आज भी ऐसा लग रहा कि कैसे गुजर गया? सारा समय यों निकल गया कि कुछ पता ही नही पडा़। तो रही सही जिन्दगी यों ही निकल जायगी कि कुछ पता ही न रहेगा। ऐसी परिस्थिति में हम और आपका कर्तव्य क्या है? क्या धन के मोह मे; परिवार के मोह में पड़े रहना ही अपना काम है? धन का मोह धन के मोह के लिये नहीं है, अपने नाम के मोह के लिये हैं इसीलिये तो लोग धन का मोह रखते हैं कि यह बहुत जुड़ जाय तो हम दुनिया के बीच में कुछ बड़े कहलाएं। अरे पर वस्तु के संचय कोई बड़ा नही कहलाता है। मान लो क इस अज्ञानमय दुनिया ने थोड़ा बड़ा कह दिया, पर करनी है खोटी कर्म बंध होता है खोटा, तो मरने के बाद एकदम कीड़ा हो गया, पेड़ बन गया तो अब कहां बड़प्पन रहा अथवा बड़प्पन तो इस जीवन में भी नही है। काहे के लिए धन का मोह करना, उससे शान्ति और संतोष नही मिलता और किसलिए परिजन से मोह करना? कौन सा पुरुष अथवा स्त्री कुटुम्बी हमारा सहायक हो सकता है? सबका अपना-अपना भाग्य है, सबकी अपनी-अपनी करनी है, जुदी-जुदी कषायें है, सब अपने ही सुख तन्मय रहते हैं। परिजन में भी क्या मोह करना? ठीक स्वरूप का भान कर लें यही वास्तविक कर्तव्य है।

संसार में संयोग वियोग की रीति—गृहस्थी में जो कर्तव्य है ऐसे गृहस्थी के कार्य करे, पर ज्ञानप्रकाश तो यथार्थ होना चाहिए। यह दुनिया ऐसी आनी-जानी की चीज है। जैसा एक अलंकार में कथन है जब पत्ता पेड़ से टूटता है तो उस समय पत्ता पेड़ से कहता है—पत्ता पूछे वृक्ष से कहो वृक्ष बनराय। अब के बिछुड़े कब मिले दूर पड़ेगे जाये।। पत्ता पूछता है कि है वृक्षराज ! अब हम आपसे बिछुड़ रहे हैं अब कब मिलेंगे? तब वृक्ष यो बोलियो—सुन पत्ता एक बात। या घर याही रीति है इक आवत इक जात।। पेड़ कहता है कि ऐ पत्ते ! इस

संसार की यही रीति है कि एक आता है और एक जाता है। तुम गिर रहे हो तो नये पत्ते आ जायेंगे। ऐसा ही यहाँ का संयोग है, कोई आता है कोई बिछुड़ता है। जो आता है वह अवश्य बिछुड़ता है।

तृष्णा का गोरखधंधा—भैया ! बड़ा गोरखधंधा है यहाँ का रहना। मन नही मानता है, इस दुनिया मे अपनी पोजीशन बढ़ाना, और बाह्य में दृष्टि देना, इससे तो आत्मा का सारा बिगाड़ हो रहा है, न धर्म रहे, न संतोष से रहे, न सुख रहे। तृष्णा के वश होकर जो सम्पदा पास में है उसका भी सुख नही लूट सकते। जो कुछ उसमें अच्छी प्रकार से तो गुजारा चला जा रहा है, सब ठीक है, पर अपने चित्त मे यदि तृष्णा हो जाए तो वर्तमान में जो कुछ है उसका भी सुख नही मिल पाता। इस संसार के समागम में कहीं भी सार नही है।

सचेतन संग का कड़ा उत्तर—और भी देखो कि अचेतन पदार्थ कितने ही सुहावने हो, किन्तु अचेतन पदार्थ कुछ उसे मोह पैदा कराने की चेष्टा नही करते हैं, क्योंकि वे न बोलना जानते हैं, न उनमें कोई ऐसा कार्य होता है जो उसके मोह की वृद्धि के कारण बने। ये चेतन पदार्थ मित्र, स्त्री आदि ऐसी चेष्टा दिखाते हैं, ऐसा स्नेह जताते हैं कि कोई विरक्त भी हो रहा हो तो भी आत्मकार्य से विमुख होकर उनके स्नेह में आ जाता है। तब जानो कि ये चेतन परिग्रह एक विकट परिग्रह है, ये सब जीव नाना दिशावों से आये हैं, नाना गतियों से चले जायेंगे। इन पाये हुए समागमों में हित का विश्वास नही करना है। मेरा हित हो सकता है तो यथार्थ ज्ञान से ही हो सकता है। सम्यग्ज्ञान के बिना कितने भी यत्न कर लो संतोष व शान्ति प्रकट न हो सकेगी। यहाँ रहकर जो इष्ट पदार्थ मिले हैं उनमें हर्ष मत मानो, और कभी अनिष्ट पदार्थ मिलते हैं तो उनमें द्वेष मत मानो।

अपने बचाव का कर्तव्य—भैया ! ये इष्ट अनिष्ट पदार्थ तो न रहेंगे साथ, किन्तु जो हर्ष और विषाद किया है उसका संस्कार इसके साथ रहेगा, अभी और परभव में क्लेश पैदा करेगा। इस कारण इष्ट वस्तु पर राग मत करो और जो कोई अनिष्ट पदार्थ है उनसे व जो प्राणी विराधक है, अपमान करने वाले हैं या अपना घात करने वाले हैं, बरबादी करने वाले हैं, ऐसे प्राणियों से भी अन्तर में द्वेष मत करो। बचाव करना भले ही किन्ही परिस्थितियों मे आवश्यक हो, पर अंतरंग में द्वेष मत लावो। मेरे लिए कोई जीव मुझे बुरा नही करता है क्योंकि कोई कुछ मुझे कर ही नही सकता है। कोई दुष्ट भी हो तो वह अपन परिणाम भर ही तो बनायेगा, मेरा क्या करेगा ? मैं ही अपने परिणामों से जब खोटा बनता हूँ तो मेरे को मुझसे ही नुक्सान पहुँचता है तो इष्ट पदार्थ में न राग करो और न अनिष्ट पदार्थ में द्वेष करो।

श्लोक 10

विराधकः कथं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति।

त्र्यंगुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते।।१०।।

प्रत्ययकारी पर क्रोध करने की व्यर्थता—कोई पुरुष किसी दूसरे का घात करना चाहता हो, सताता हो या घात किया हो तो वह जीव भी किसी न किसी समय सतायेगा, बदला लेगा। जब कोई सता रहा हो तब यह सोचना चाहिए मैने इसे सताया होगा, क्लेश पहुँचाया होगा पहिले तो यह प्रतिकार कर रहा है, इस पर क्या क्रोध करना? जैसा मैने किया तैसा इसके द्वारा मुझे मिल रहा है। जैसे कोई पुरुष भूसा काठ या लोहे के बने हुए तिरंगुल से समेटते हैं, उसमे तीन अंगुलियां सी बनी होती है? उसके चलाने पर चलाने वाला आदमी भी झुक जाता है। वह तिरंगुल चलाने वाला जब भूस समेटता है तो जमीन पर वह अपने पैर भी चलाता जाता है। यदि वह दोनों पैरो से चलावे तो एकदम लट्ठ की तरह गिर जावेगा। उदाहरण में यह बात कही गयी है। कि जो दूसरे को मारता है वह भी उस दूसरे के द्वारा कभी मारा जाता है, जो दूसरे को सताता है वह भी कभी उस दूसरे के द्वारा सताया जाता है। जब कोई सताये तो यह सोचना चाहिए कि इस पर क्या क्रोध करना, मैने ही किसी समय में इसका बुरा किया है। कर्म बंध किया है उसके हृदय में यह घटना आ गयी है। इसमें दूसरे पर क्या क्रोध करना है?

रोष और द्वेष भावना में बरबादी—इस दृष्टान्त में दूसरी बात यह भी जानना कि भुस को समेटने वाला तो तिरंगुल होता है, उसे चलाते हैं और साथ ही पैर घसीटते हैं ताकि भुस आसानी से इकट्ठा हो जाय। कोई पुरुष एक पैर से तिरंगुल ढकेलता है और कोई पुरुष दोनों पैरों से ढकेले तो वह पुरुष ही गिर जायगा, ऐसे ही जो पुरुष तीव्र कषाय करके किसी दूसरे पुरुष का घात करता है, अपमान करता है, सताता है तो वह पुरुष ही स्वयं अपमानित होगा और कभी विशेष क्लेश पायगा। इस कारण अपने मन बिल्कुल स्वच्छ रखने चाहिए। किसी का बुरा न सोचा जाय, सब सुखी रहे। जो पुरुष सबके सुखी होने की भावना करेगा वह सुख रहेगा और जो पुरुष दूसरे की दुःखी होने की भावना करता है वह चूंकि संक्लेश परिणाम बिना कोई दूसरे के दुःखी होने की सोच नही सकता, सो जिस समय दूसरे को दुःखी होने की बात सोची जा रही है उस समय में यह स्वयं दुःखी हो रहा हे जो दूसरे का दुःखी होना सोचेगा वह दूसरों के प्रति सोचकर अपने व्यग्रता बढ़ा रहा है।

अपकार में प्रत्ययकार की प्राकृतिकता—लोक मे जो पुरुष दूसरे को सुख पहुँचाता है दूसरे भी उसे सुख पहुँचाते हैं। अभी यहाँ ही देख लो—किसी से विनय के वचन बोलो तो दूसरे से भी इज्जत मिलेगी और खुद टेढ़े कठोर वचन बोंलेगे, तो दूसरों से भी वैसे ही वचन सुनने को मिलते हैं, वैसा ही व्यवहार देखने को मिलता है। तो जब यह सुनिश्चित है कि हम जैसा दूसरे के प्रति सोचेंगे, वैसा ही मुझे होगा, तब अपकार करने वाले मनुष्य का बदले में कोई में कोई दूसरा अपकार कर रहा है तो उस पर क्रोध करना व्यर्थ है। जो किया है सो भोगा जा रहा है। अब यदि उस पर क्रोध करते हैं तो एक भूल और बढ़ाते हैं। पूर्व काल में भूल किया था उसका फल तो आज भोग रहे हैं और उसी भूल को अब फिर दुहरायेंगे तो भविष्य में फिर दुःख भोगना पड़ेगा। अब कोई पुरुष अपकार करता हो, अपनी किसी प्रकार की बरबादी में कारण बन रहा हो तो यह सोचना चाहिए

कि यह पुरुष जो मेरा उपकार कर रहा है बुरा कर रहा है, अथवा मेरी किसी विपत्ति के ढोने में सहायक हो रहा है तो उसने जो कुछ इसके साथ बुरा किया था उसका यह बदला दे रहा है। उसे इस पर रूष्ट होने की क्या आवश्यकता है?

करणीय विवेक—भैया ! तत्त्वज्ञान में अपूर्व आनन्द है, अपूर्व शान्ति है। कोई तत्त्व ज्ञान के ढिग न जाये और शान्ति चाहे तो यह कभी हो नही सकता कि शान्ति प्राप्त हो। इससे जो अपना बुरा कर रहा हो उसके प्रति यही सोचना चाहिए या हिम्मत हो ऐसी तो ऐसा काम करें जिससे ऐसा बदला लिया जा सके जो वह जीवन भर भी श्रम करता रहे, वह बदला है भलाई करने का, कोई पुरुष अपना अपकार करता है तो हम उसकी भलाई करे, वह पुरुष स्वयं लज्जित होगा और आपकी सेवा जीवन भर करेगा, ऐहसान मानेगा। बुरा करने वाले के प्रति हम भी बुराई की बात करने लगे, कोई अपने पर किसी तरह विपदा ढाता है तो हम भी उस पर विपदा ढाने लगें तो इससे शांति का समय न मिल सकेगा, विरोध ही बढ़ेगा, अशान्ति ही बढेगी। इससे अपकार करने वाले का बहुत तगड़ा बदला यह है कि उसका भला कर दे तो वह जीवनभर अनुरागी रहेगा और किसी समय बहुत काम आयेगा।

मानवता के अपरित्याग में कल्याण—भैया ! बुरा करने वाले के प्रति खुद बुरा करने लगें तो उसमें लाभ नही है सज्जनता भी नही है, बड़प्पन भी नही है। वहाँ तो ऐसी स्थिति हो जायगी, जैसे पुराणों में एक घटना आयी है कि कोई साधु जंगल में नदी के किनारे किसी शिला पर रोज तपस्या किया जाता था। साधु चर्या विधि से आहार के समय किसी निकट के गाँव चला जाता था और आहार लेकर लौटने पर उसी शिला पर तपस्या करता था। वह शिला बहुत अच्छी थी। एक दिन साधु के आने के पहिले एक धोबी आकर उस पर कपड़े धोने लगा। साधु ने देखा कि धोबी उस शिला पर कपड़े धो रहा है, सो कहा कि यहाँ से तुम चले जावो, अन्य जगह कपड़े धो लो, यह शिला हमारे तपस्या करने की है। धोबी ने कहा—महाराज तपस्या तो किसी भी जगह बैठकर की जा सकती है, पर कपड़े धोने के लिए तो यह ही शिला ठीक है। आखिर दोनों में बात बढ़ी। साधु ने धोबी के दो तमाचे मार दिये। धोबी को भी गुस्सा आया तो उसने भी मार दिया। अब वे दोनों बहुत जूझ गये तो धोबी पहिने था तहमद, सो वह छूट गया, अब दोनों नग्न हो गए। अब तो दोना एक से ही लग रहे थे। बहुत विवाद के बाद वह साधु ऊपर को निगाह करके कहने लगा कि अरे देवताओं, तुम्हें कुछ खबर नही है कि साधु के ऊपर संकट आ रहा है? तो आकाश से आवाज आयी की महाराज देवता तो सब धर्मात्मावों की रक्षा करने को उत्सुक है, पर हम सब लोग इस संदेह मं पड़ गए है कि इन दोनों में साधु कौन है और धोबी कौन है? एक सी दोनों के कषाय है, एकसी लड़ाई है, एक ऐसी गाली-गलौज है तो उसमें कैसे निपटारा हो कि अमुक साधु है और अमुक धोबी है।

सन्मार्ग का सहारा—भैया ! बुरा करने वाले का बुरा करने लग जाना यह कोई अच्छा प्रतिकार नही है। सज्ञनता तो इसमें है कि कुछ परवाह न करो कि कोई मेरा क्या सोचता है, तुम सबका भला ही सोच लो। एक यही काम करके देख लो। किसी का बुरा करने में तो खुद को भी संक्लेश करना पड़ेगा। तब बुरा सोच सकते हैं। जैसे किसी को गाली देना है तो अपने आपमें यह भाव लाना पड़ेगा कि गाली दे सके। और किसी को सम्मान भरी बात कहना है तो उसमें शान्ति से बात कर सकते हो। इससे यह निर्णय रक्खो कि हमारा कर्तव्य यह है कि हम सब जीवो के प्रति उनके सुखी होने की भावना करें, इसमें ही हमें सन्मार्ग प्राप्त हो सकेगा।

श्लोक 11

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा।

अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ।।११।।

रागद्वेषवश मन्थन—यह जीव रागद्वेषरूपी दोनों लम्बी नेतनियों के आकर्षण के द्वारा संसार समुद्र में अज्ञान से घूम रहा है। दही मथने वाली जो मथानी होती है उसमें जो डोरी लिपटी रहती है तो उस डोरी को नेतनी कहते हें। उस नेतनी के आकर्षण की क्रिया से, जैसे मथानी मटकी में बहुत घूमती रहती है इसी प्रकार रागद्वेष ये दो तो डोरिया लगी हुई है, इन दो डोरियों के बीच में जीव पड़ा है। यह जीव मथानी की तरह इस संसार सागर में भ्रमण कर रहा है। देहादिक परपदार्थों में अज्ञान के कारण इस जीव को राग और द्वेष होता है, इष्ट पदार्थों में तो प्रेम और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष, सो इन रागद्वेषो के कारण चिरकाल तक संसार में घूमता है। जिस राग से दुःख है उस ही राग से यह जीव लिपटा चला जा रहा है।

रागद्वेष का क्लेश—भैया ! परवस्तु के राग से ही क्लेश है। आखिर ये समस्त परवस्तु यहाँ के यहाँ ही रह जाते हैं। पर का कोई भी अंश इस जीव के साथ नही लगेगा, लेकिन जिस राग से जीवन भर दुःखी हो रहा है और परभव में भी दुःखी होगा उसी राग को यह जीव अपनाए चला जा रहा है, उसका आकर्षण बना है, कैसा मेरा सुन्दर परिवार, कैसी भली स्त्री, कैसे भले पुत्र, कैसे भले मित्र सबकी और आकर्षण अज्ञान में हुआ करता है। मिलता कुछ नही वहाँ, बल्कि श्रद्धा, चरित्र, शक्ति, ज्ञान सभी की बरबादी है, लेकिन राग बिना इस जीव को चैन ही नही पड़ती है। ऐसी ही द्वेष की बात है। जगत के सभी जीव एक समान है और सभी जीव केवल अपना ही अपना परिणमन कर पाते हैं तब फिर शत्रुता के लायक तो कोई जीव ही नही है। किससे दुश्मनी करनी है? सबका ही अपना जैसा स्वरूप है। कौन शत्रु, लेकिन अज्ञान में अपने कल्पित विषयों में बाधा जिनके निमित्त से हुई है उन्हें यह शत्रु मान लेता है। सो राग और द्वेष इन दोनों से यह जीव खिंचा चला जा रहा है।

रागद्वेष के चढ़ाव उतार—जैसे बहुत बड़ी झूलने की पलकियां होती है, मेले में उन पर बैठकर लोग झूलते हैं। बम्बई जैसे शहरों में बिजली से चलने वाली बहुत बड़ी पलकियाँ होती है। बालक लोग शौक से उस पर बैठते हैं। पर जैसे पलकियाँ चढ़ती है तो भय लगता है और जब ऊपर चढ़कर गिरती है तब और भी अधिक भय लगता है। भय भी सहते जाते हैं और उस पर शौक से बैठते भी जाते हैं। ऐसे ही ये राग और द्वेष के चढ़ाव उतार इस जीव के साथ लगे है जिसमें अनेकों संकट आते रहते हैं, उन्हें सहते जाते हैं, दुःखी होते जाते हैं, किन्तु उन्हें त्याग नही सकते हैं। भरत और बाहुबलि जैसी बात तो एक विचित्र ही घटना है, न यहाँ भरत रहे और न बाहुबलि रहे परन्तु जिस जमाने में उनका युद्ध चला उस जमाने में तो वे भी संकट काटते रहे होगे। कौरव और पाण्डव का महाभारत देखो। महाभारत का युद्ध हुआ था उस समय तो दुनिया में मानो प्रलय सा छा गया होगा, ऐसा संकट था। न कौरव रहे न पांडव। पुराण पुरुषों ने भी बड़े-बड़े वैभव भोगे, युद्ध किया, अंत में कोई विरक्त होकर अलग हुए, कोई संक्लेश में मरकर अलग हुए। जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होता है, परन्तु ये मोही जीव अज्ञान में इन बाह्य वस्तुओं को अपना सर्वस्व मानते हैं, जीव राग और द्वेष में व्यग्र रहते हैं वे अनन्तकाल तक जन्म मरण के कष्ट उठाते रहते हैं।

राग और द्वेष का परस्पर सहयोग—राग और द्वेष ये दोनों परस्पर सहयोगी है। जैसे मंथानी में जो डोर लगी रहती है उनके दोनों छोर परस्पर सहयोगी है, एक छोर अपना काम न करे तो दूसरा छोर अपना काम नही कर सकता है। एक और खिंचता है तब एक दूसरा छोर मंथानी की और खिंच जाता है। जैसे मंथानी की रस्सी में दोनों छोरों का परस्पर सहयोग है ऐसे ही राग और द्वेष का मानो परस्पर सहयोग है। किसी वस्तु का राग है तो उस वस्तु के बाधक के प्रति द्वेष है। किसी बाधक के प्रति द्वेष है तो उसके बाधक के प्रति राग है । ये राग और द्वेष भी परस्पर में एक दूसरे के किसी भी प्रकार का सहयोग दे रहे हैं। द्वेष के बिना राग नही रहता है और राग के बिना द्वेष भी नही रहता है। किसी वस्तु में राग होगा तभी अन्य किसी से द्वेष होगा। और अध्यात्म में यही देख लो जिसका ज्ञान और वैराग्य से द्वेष है। उसको विषय कषायों से राग है, जिसका ज्ञान वैराग्य से प्रेम है उसे विषय कषायों से द्वेष है। यों यह तो अध्यात्म की बात है। इस प्रकरण में तो लौकिक चर्चा है।

सर्व दोषों का मूल—यह जीव राग द्वेष के वश होकर इस संसार समुद्र में गोते खा रहा है। जहाँ राग हो वहाँ द्वेष नियम से होता है। जिसे धन वैभव में राग है उसमें कोई दूसरा बाधक हो गया तो उसको द्वेषी मान लिया। जिसका जो लक्ष्य है उस लक्ष्य में जा बाधक पड़े वही उसका द्वेषी बन जाता है। साधुसंत कही बिहार करते जा रहे हो तो शिकारी उन साधुवों को देखकर साधुवों पर द्वेष करता है, आज तो बड़ा असगुन हुआ, शिकार नही मिलने का है। तो जिसका जो लक्ष्य है उस लक्ष्य में बाधक पड़े उसी से लोग द्वेष करने लगते हैं। जहां ये राग और द्वेष दोनों होते हैं वहां यह मन अत्यन्त बेकार हो जाता है। जो मनुष्य यह दावा करता है कि

हमारा तो सबसे प्रेम है, किसी से द्वेष नही है, यह उनकी भ्रम भरी कल्पना है। प्रेम और द्वेष ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। किसी में राग नही रहा तो द्वेष हो गया। यह मेरा है और यह दूसरे का है ऐसा जहाँ रागद्वेष दोनों रहते हैं वहाँ अन्य दोष तो अनायास आ ही जाते हैं क्योंकि सारे ऐबों का कारण राग और द्वेष है।

भ्रमण चक्र—यह रागद्वेष की परम्परा इस जीव को संसार मे भ्रमण करा रही है। जो जीव संसार में घूमता रहता है उसके रागद्वेष की उन्नति होती रहती है और उसके द्वारा शुभ अशुभ कर्मो का आस्रव होता रहता है। अशुभ कर्म जो करेगा उसे दुर्गति मिलेगी, जो शुभ कर्म करेगा उसे सुगति मिलेगी। देखते जाइए चक्कर। रागद्वेष परिणामो से कर्म बँधे, कर्मों से गति अथवा सुगति मिली, और कोई भी गति मिलेगी उसमें देह मिला, देह से इन्द्रियाँ हुई, और इन्द्रियाँ से विषयों का ग्रहण किया और विषयों के ग्रहण से राग और द्वेष हुआ। उसी जगह आ जाइये। अब रागद्वेष से कर्म बँधा, कर्म से गति सुगति हुई, वहाँ देह मिला, देह से इन्द्रियाँ हुई, इन्द्रियाँ से विषय किया, विषयों से रागद्वेष हुआ यो यह चक्र इस जीव के चलता ही रहता है। जैसे अपने ही जीवन में देख लो—जो कल किया सो आज किया, आज किया सो कल करेंगे, इससे विलक्षण अपूर्व काम कुछ नही कर पाता यह जीव।

अपूर्व कार्य—भैया ! इन चिरपरिचित विषयो से विलक्षण आत्मकार्य कर ले कोई तो वह धन्य है। अपनी २४ घंटे की चर्चा देख लो। पंचेन्द्रिय के विषयो का सेवन किया और मन के यश अपयश, इज्जत प्रतिष्ठा सम्बंधी कल्पनाएँ बनायी, जो काम कल किया सो आज किया, रात भर सोये, सुबह उठे, दिन चढ़ गया, भोजन किया, कुछ इतर फुलेल लगाया, दूकान गए, काम किया, भोजन किया, फिर वही का वही काम। जो चक्र इन्द्रिय और मन सम्बंधी लगा आया है वही लगता जा रहा है, कोई नया काम नही किया। यह जीव रागवश इन्हीं में अपना काम समझता है, पर नया कुछ नही किया। नया तो एक आत्म-कल्याण का काम है, अन्य काम तो और भवो में भी किया। मनुष्य भव में विषय सेवन से अतिरिक्त कौन सा नया काम किया? वही विषयो का सेवन, वही विषयों की बात। यो खावों, यो रहो ऐसा भोगों, ऐसा धन कमावो, सारी वही बातें है कुछ भी तो नया काम नही हुआ। और सम्भव है कि पहिले आकुलता कम थी अब ज्यादा वैभव हो गया तो ज्यादा आकुलता हो गयी। जब कम वैभव होता तो बड़ा समय मिलता है, सत्संग में भी, पाठ पूजन भक्ति ध्यान भी करने में मन लगता है। और जब वैभव बढ़ता है तो सत्संग भी प्रायः गायब हो जाता है, पूजा भक्ति में भी कम समय लगता है और रातदिन परेशानी रहती है।

दुर्लभ नरजन्म में विवेक—अहो, यह जीव मथानी की तरह मथा जा रहा है। कषाय किसे कहते हैं जो आत्मा को कसे। दुःखों में यह जीव मथ जाता है। नाम तो सरल है इसे बड़ा क्लेश है पर जिसे क्लेश है वही जानता है। अपनी दृष्टि शुद्ध कर लो तो क्लेश कुछ भी नही है। क्या क्लेश है? सड़कों पर देखते हैं भैंसों के कंधे सूजे है, उन पर बहुत बड़ा बोझ लदा है फिर भी दमादम चाबुक चलते जा रहे हैं। बेचारे कितना कष्ट

करके जुत रहे हैं और जब जुतने लायक न रहा तो कसाई के हाथ बेच दिया। कसाई ने छुरे से काटकर मांस बेच लिया और खाल बेच लिया। क्या ऐसे पशुओं से भी ज्यादा कष्ट है हम आपको? संसार में दुःखी जीवो की और दृष्टि पसार कर देखो तो जरा। अनेक जीवों की अपेक्षा हम और आप सब मनुष्यों का सुखी जीवन है, पर तृष्णा लगी है तो वर्तमान सुख भी नही भोगा जा सकता। उस तृष्णा में बहे जा रहे हैं सो वर्तमान सुख भी छूटा जा रहा है। ऐसी विशुद्ध स्थिति पाने से लाभ क्या लिया? यदि विषय कषायों में धन के संचय में परिग्रह की बुद्धि में इनमें ही समय गुजरा तो मनुष्य जन्म पाने का कुछ लाभ न पाया।

ऐहिक कल्पित पोजीशन से आत्मकार्य का अभाव—यहाँ के कुछ लोगों ने बढ़ावा कह दिया तो न ये बढ़ावा कहने वाले लोग ही रहेंगे और न यह बढ़ावा कहलाने वाला पुरुष ही रहेगा। ये तो सब मायारूप है, परमार्थ तत्त्व नही है। किसलिए अपने बढ़ावा में बहकर अपनी बरबादी करना। जगत में अन्य मूढ़ों की परिस्थितियों को निहार कर अपना निर्णय नही करना है। यहाँ की वोटों से काम नही चलने का है, जगत के सभी जीव किस और बहे जा रहे हैं कुछ दृष्टि तो दो। अपना काम तो अपने आत्मा का कल्याण करना है। यह दुनिया मोहियों से भरी हुई है। इन मोहियों की सलाह से चलने से काम न बनेगा।

यथार्थ निर्णय के प्रयोग की आवश्यकता—भैया ! किसके लिए ये रागद्वेष किए जा रहे हैं कुछ यथार्थ निर्णय तो करिये। किसी एक को मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा अमुक है, यह सुखी रहे, ठीक है। प्रथम तो यह बात है कि किसी को सुखी करना यह किसी के हाथ की बात नही है। उसका उदय होगा तो वह सुखी हो सकेगा, उदय भला नही है तो सुखी नही हो सकता है। प्रथम तो यह बात है फिर भी दूसरी बात यह है कि संसार के सभी जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न है। हमारे आत्मा में हमारे घर का भी पुत्र क्या परिवर्तन कर देगा? किसके लिए कल्पना में डूब रहे है? यह बहुत समृद्धिशाली हो जाय और उस एक को छोड़कर बाकी जो अनन्त जीव है वे तुम्हारी निगाह में कुछ है क्या? वही एक तुम्हारा प्रभु बन गया जिसको रात दिन कल्पना में बैठाये लिए जा रहे हो। कौन पुरुष अथवा कौन जीव ऐसा है जिससे राग अथवा द्वेष करना चाहिए? अरे शुद्ध तत्त्व के ज्ञाता बनो और जिस पदवी में है उस पदवी में जो करना पड़ रहा है करें किन्तु यथार्थ ज्ञान तो अन्तर में रहना ही चाहिए।

कल्याण साधिका दृष्टि—मैं सर्व परपदार्थ से जुदा हूँ, अपने आप में अपने स्वरूप मात्र हूँ। मेरा सब कुछ मेरे करने से ही होगा, मैं किसी भी प्रकार की हो भावना ही बनाता हूं, भावना से ही संसार है और भावना से ही मुक्ति है, भावना के सिवाय मैं अन्य कुछ करने में समर्थ नही हूँ ऐसी अपनी भावात्मक दृष्टि हो, रागद्वेष का परित्याग हो, आत्मकल्याण की धुन हो तो इस वृत्ति से अपने आपको मार्ग मिलेगा। विषयकषायों मे बहे जाएँ, अपने जीवन को यों ही गवां दे, यह तो कोई कल्याण की बात नही है। ऐसे जीवन में और पशु जीवन में अन्तर कुछ नही है। वे भी सभी विषयों की साधना करते हैं और यहाँ भी विषयों की साधना की तो कौन सा

लाभ लूट लिया? ये तो सभी मिट जायेंगे, और संस्कार खोटा बनाया तो इसके फल मे आगे भी दुःख होगा। इससे मोह मेटें, रागद्वेष में न बहें, अपने आत्मा की कुछ दृष्टि बनाएँ, निष्कपट प्रभुभक्ति करें और सभी जीवों में एक समान दृष्टि का उद्देश्य करे तो यह उन्नति का साधन है।

श्लोक 12

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।

यावत्तावद्भवन्त्यन्याः विपदाः प्रचुराः पुरा ।।१२।।

संसार में विपदावों का तांता—यह संसार एक चक्र लगाने वाले यंत्र की तरह है। जैसे रहट में घटिया चक्र लगाती रहती है, उसमें एक घटी भर गयी, वह रीत गयी, फिर दूसरी घटी आयी वह रीत गई। जिस तरह उसी घटी यंत्र में एक घटी भरते हैं तो थोड़ी देर में रीत जाती है अथवा पैर से चलने वाले यन्त्र में जिसमें दो घटिका लगी है, यह रीत जाती है तो दूसरी रीतने के लिये आ जाती है। ऐसे ही इस दुनिया में एक विपत्ति को मेटकर कुछ राहत ली तो दूसरी विपदा आ जाती है। यह बात संसार के सभी जीवों पर घटित हो जाती है। आप विपत्तियों का निपटारा हो ही नही पाता है। सोचते हैं कि धन कमाने लगें तो फिर कोई विपदा न रहेगी अथवा एक संतान हुआ, दूसरा तीसरा हुआ, लो उनमें से एक मर गया। एक न एक विपदा सबको लगी रहती है।

विपदा का आधार कल्पना—भैया ! लगी कुछ नही रहती है विपदा कल्पना से एक न एक विपदा मान लेते हैं। है किसी को कुछ नही। अभी ही बतावो कहाँ क्या दुःख है? न मानो किसी को कोई तो कुछ दुःख ही नही रहा। जैसा पदार्थ है वैसा समझ लो फिर कोई क्लेश ही नही रहा। जिस सम्पदा को आप अपना समझते हैं वही अब दूसरे के पास है तो उसे आप नही मानते हैं कि यह मेरा हे। जैसे दूसरे के पास रहने वाला वैभव भी अपना नही है ऐसे ही अपने पास रहने वाला वैभव भी अपना नही है। ऐसा मान लो तो कोई क्लेश ही नहीं है। सबके मन में किसी न किसी चिंता की गुनगुनाहट चल रही है। सब व्यर्थ की गुनगुनाहट है, सबकी कल्पना में भिन्न-भिन्न गुनगुनाहट है, वही विपदा है। तो जैसे रहट यंत्र के एक घड़े के खाली हो जाने पर दूसरा घड़ा सामने आ जाता है, ठीक इसी तरह इस संसार में एक विपदा दूर होती है तो दूसरी विपदा सामने आ जाती है। इस तरह देखिये तो इस संसार मे कभी साता है तो कभी असाता है। एक क्षण भी यह जीव इन कल्पनावों से मुक्त नही होता है, न असातावों से मुक्त होता है।

अन्तर्दाह—अहो, कितनी कठिन चाह दाह की भीषण ज्वालाएँ इस संसार में बस रही है, जल रहा है खुद यह विषादवह्नि में, किन्तु पक्षपात की बुद्धि को नही छोड़ता है। ये मेरे है, इनके लिए तो तन, मन, धन, वचन सब हाजिर है। यह मोह का अंधकार सब जीवों को सता रहा है, विकल होता हुआ उनमें ही लिप्त हो रहा है।

जिनके सम्बंध से क्लेश होता है उस ही क्लेश को मिटाने के लिए उनमें ही लिप्त हो रहा है। यही है एक जाल। कोई जाल यह ऐसा नही है जैसे लोहे के जाल हो, सूत के जाल हो, किसी भी प्रकार का जाल नही है इस जीव पर, मकड़ी के जाल बराबर भी सूक्ष्म कमजोर भी जाल नही हे, कोई जाल नाम की बात ही नही है किन्तु यह मोही जीव अपनी कल्पना में मोह का ऐसा जाल पूरता है कि उससे परेशान हो जाता है, तब उसे संसार में आधि व्याधि उपाधि सब लगी रहती है। आधि नाम तो है मानसिक दुःख का, व्याधि नाम है शारीरिक दुःख का और उपाधि नाम है पर का, पुछल्ला लपेटे रहने का। यों यह जीव आधि व्याधि और उपाधि से दुःखी रहा करता है। उपाधि का अर्थ है जो आधि के समीप ले जाय। 'उप' का अर्थ है समीप और आधि का अर्थ है मानसिक दुःख। जो मानसिक दुःख के समीप ले जाय उसे उपाधि कहते हैं। जैसे पोजीशन डिग्री आदि मिलना ये सब उपाधि है। तो यो यह जीव भ्रम में कल्पनाजाल में बसकर आधि व्याधि और उपाधि से ग्रस्त रहता है।

काल्पनिक मौज से शुद्ध आनन्द का विघात—भैया ! शुद्ध आनन्द तो आत्मा के चैतन्यस्वरूप में है, किन्तु विकल्प-जालों की ऐसी पूरिया पूर ली कि जिससे सुलझ नही पाते हैं और अपना आनन्द समुद्र जो निज संयोग में सुख की कल्पना करने लगते हैं। परपदार्थों के सम्पर्क में सुख की कल्पना भले ही मोही करे, किन्तु इसका तो काम पूरा हो नही पाता है । जो पुरुष जिस स्थिति में है उस स्थिति में चैन नही मानता है, क्योंकि उससे बड़ी स्थिति पर दृष्टि लगा दी है। कोई हजारपति है। उसकी दृष्टि लखपति पर है तो वर्तमान मे प्राप्त वैभव का भी आनन्द नही ले सकता है। यो धनी हो कोई तो दुःखी है, निर्धन हो तो दुःखी है। किसे सुख कहा जाय? मोहियों ने केवल कल्पना से मौज मान रक्खा है।

विडम्बनाओं का संन्यास—यदि संसार भ्रमण करते हुए भी वास्तविक सुख मिलता होता तो बड़े-बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती ऐसे महापुरुष इस वैभव को कभी न छोड़ते। ये मनुष्य इसी बात पर तो हैरान है कि संचित किया हुआ वैभव उनके साथ नही जाता। कोई पदार्थ इस जीव का बन जाता या मरने पर साथ जाता तो कितना उपद्रव संसार में मच जाता? जब इस जीवन में भी कोई वैभव साथी नही है इतने पर तो इतनी विडम्बनाएँ है, यदि कुछ पैसा इस जीव के साथ जाता होता मरने पर, तब तो कितना अन्याय और कितनी विडम्बना इस संसार में बन जाती? कंजूस लोग तो बड़े दुःखी है, वे इसी कल्पना में मरे जा रहे हैं कि यह वैभव मेरे साथ न जायगा। बड़े-बड़े महापुराण पुरुष इस वैभव को असार जानकर उससे विरक्त हुए थे। केवल एक ज्ञानमात्र निज स्वरूप का ही उन्होने अनुभवन किया था। यदि यह वैभव कुछ भी सारभूत होता तो ये महापुरुषों क्यों इसे त्याग देते? धन वैभव समस्त परपदार्थ है, परपदार्थों में दृष्टि जाने से ही क्लेश होने लगता है क्योंकि किसी भी परपदार्थों को किसी भी रूप परिणमना यह अपने आप के हाथ की बात नही है, पर मिथ्या श्रद्धा में इस जीव ने यह माना कि जिस पदार्थ को मैं जिस तरह राखूँ उस प्रकार रख सकता हूँ किन्तु बात ऐसी है नही,

हो नही सकती, तब क्लेश ही तो आयगा। इसी कारण तो ये महापुरुष इस वैभव को असार दुःख का कारण जानकर सबको त्यागकर दिगम्बर साधु हुए।

विकट संकट और उनका विजय—कल्पनाजाल एक विकट संकट है। जिनके कोई दिल की बीमारी, घबड़ाहट या हार्ट फेल होता है उसका मुख्य कारण पर का ही चिंतन है। कोई विकल्पजाल बनाया, उसमें परेशान हुआ कि ये सब व्याधियां उत्पन्न हो जाती है। वीर पुरुषों ने इन सब विकल्पजालों का परित्याग कर तपश्चरण धारण किया। जो पुरूषार्थ कायर पुरुषों से नही किया जाता वह अलौकिक पुरूषार्थ साधु संतो ने किया। कोई साधु आत्मध्यान में मग्न है उस ही समय कोई सिंह या अन्य कोई हिंसक जानवर आ जाय और उनके शरीर को खाने लगे तो वे विकल्प नही करते हैं। वे तो जानते हैं कि ऐसे विकल्प मैने अनेक बार किए, जन्म मरण भी अनन्त बार भोगा, पर एक ज्ञान का अनुभव और ज्ञान की स्थिरता में लगना यह काम अब तक नही किया। ज्ञानी पुरुष संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहा करते हैं, वे अपने आपको ही अपने ज्ञान और आनन्द का कारण मानते हैं। जो पुरुष यह जानते हैं कि ये सर्व समागम बाह्य तत्त्व है। सर्व समागम मिट जाने वाले हैं, ये समागम सदा न रहेंगे, ये दुःख के कारण है। कोई चीज भिन्न है उसे अपना मानना यही दुःख का कारण है।

परमार्थ सम्पदा और विपदा—भैया ! यह जीव स्वभाव से सुखी है। इस पर एक भी क्लेश नही है, पर जहाँ परपदार्थ के प्रति विचार बनाया वहाँ क्लेश हो गया। ये पंचेन्द्रिय के विषय भोग ये कदाचित् भी आनन्द के कारण नही हो सकते हैं। यो तो जैसे दाद और खाज जिसके होता है वह उसको ही खुजाता हुआ सोचता है कि सर्वोत्कृष्ट आनन्द तो यही है। इससे बढ़कर और आनन्द क्या होगा यों कि उसके इतनी ही बुद्धि है पर भोग साधनों के बराबर विपत्ति ही और कुछ नही है। जो ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप को अपने ज्ञान में बसाये हुए है वे निराकुल रहते हैं। कोई अपराध न करे तो आकुलता नही हो सकती है। जब कोई भी आकुलता होती है तो यह निर्णय करना चाहिए कि हमने ही अपराध किया है यह जगत विपत्तियों से घिरा है। वस्तु स्वरूप के विपरीत जो श्रद्धान रखे उसे चैन नही मिल सकती है। ज्ञाता द्रष्टा रहे तभी आनन्द है। प्रभु का स्वरूप ऐसा ही है इस कारण प्रभु आनन्दमग्न है। सारा विश्व तीन लोक के समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में आते हैं पर वे ज्ञाता द्रष्टा ही रहते हैं। वे जगत् साक्षी है इस कारण उनको रंच भी क्लेश नही होता।

संसार में विपदाओं की प्राकृतिक देन—देखो संसार में हम और आप सब एक विपदा को मिटाने का यत्न करते हैं कि दूसरी विपदा आ जाती है अर्थात् कल्पना से पदार्थ के किसी भी परिणमन में यह विपदा मानने लगाता है। श्री राम भगवान कुछ बचपन में लौकिक नाते से भले ही सुखी रहे हैं गृहस्थावस्था मे, पर उसके बाद देखो तो सारा जीवन क्लेश ही क्लेश में गुजरा, किन्तु उनमें धैर्य था, विवेक था सो अंतिम स्थिति उनकी उत्तम रही और आत्म ध्यानमग्न हुए, निर्वाणपद प्राप्त किया, पर सरसरी निगाह से देखो तो राज्याभिषेक होने

को था, यहाँ तक तो खुशी थी, पर आदेश हुआ कि भरत को राज्य होगा। श्री राम ने सज्जनता निभाई कि भरत राजा होगा, होना चाहिए, ठीक है किन्तु जब तक हम रहेंगे घर में तब तक भरत की प्रतिष्ठा न बढ़ेगी, लोगों की दृष्टि हम पर रहेगी, तो भरत राजा होकर भी कुछ राज्य सत्कार न पा सकेगा, सो उन्होंने वन जाना स्वीकार किया।

विपदा पर विपदा—श्री राम अब वनवासी बन गए। छोटी-छोटी विपदाएं तो उन्हें रोज-रोज आती होगी। भयानक वन, कोई साधन पास नही, चले जा रहे हैं। कितनी ही जगह तो मिट्टी के बर्तन बनाकर साक पत्र भाजी को जोड़ कर भोजन बनाया गया और किसी जगह बड़े-बड़े राजा लोग भी आकर उनका सत्कार करते थे। वन की विपदाएँ उन्होने प्रसन्नता से सही। लो थोडी ही देर बाद एक भयानक विपदा और आयी, सीता का हरण हुआ। कोई भी विपदा हो, लगातार बनी रहे तो वह विपदा सहन हो जाती है और कल्पना में अब यह विपदा नही रही ऐसा भान कर लेते हैं। वियोग का दुःख रहा, पर जैसे ही कुछ पता चला कि सीता लंका में है, तो इस वृतान्त को सुनकर कुछ विपत्ति में हल्कापन अनुभव किया, लो अब युद्ध की तैयारी हो गयी। अब युद्ध को चले, युद्ध होने लगा।

उत्तरोत्तर महती विपदा—एक विपदा पूर्ण भी न हुई कि लो दूसरी विपदा सामने आयी। लक्ष्मण को रावण की शक्ति लग गयी। लक्ष्मण बेहोश हो गया। उस समय राम ने जो विलाप किया वह कवि की कल्पना में बड़ा करुणा जनक था। एक भाई निष्कपट भाव तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर करता है, बड़ी भक्ति से सहयोगी रहे और उस पर कोई विपदा आ जाए तो वह बहुत खलती है। किसी निष्कपट मित्र पर कोई विपदा आ जाए तो उसमें बहुत क्लेश अनुभूत होता है, क्योंकि उस निष्कपट मित्र का आभार मानता है ना वह। जब लक्ष्मण के शक्ति लगी तो कितनी विपदा श्री राम ने मानी होगी? किसी प्रकार शक्ति दूर हो गयी तो अब पुनः युद्ध की तैयारी हुई। युद्ध में कितने ही सहयोगियों पर विपदा आते देखकर कितने दुःखी वे रहे होंगे।

विपदा के सीमा के परे विपदा का अन्त—लो युद्ध भी जीत गए, सीता भी घर ले आये, अब एक विपदा धोबिन के अपवाद की आई। यह कितनी कठिन विपदा लग गयी? सीता को फिर किसी बहाने जंगल में छुड़वा दिया। विपदा आयी। लव कुश जन्मे, लव कुश से युद्ध हुआ, सीता को फिर घर ले आए। लोकापवाद की बात मन में खलती रही। यह जानते हुए भी कि सीता निर्दोष है, अग्निकुण्ड में गिरने का आदेश दिया। जब अग्निकुण्ड में सीता कूद रही थी उस समय राम कितने विपन्न रहे होंगे, अनुमान कर लो। बाद में लक्ष्मण न रहे इस वियोग का संताप सहा, अनेक ऐसी घटनाएँ आती रही कि नई-नई विपदाएँ होती गयी। श्रीराम तब तृप्त हुए जब वे सकल विकल्प त्यागकर एक ब्रह्म के अनुभव में रत हुए।

कल्पनोद्भूत विपदायें व उनका विनाश—यह संसार विपदावों का घर है। विपदा भी कुछ नही, केवल कल्पना है। सो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करके उन कल्पनावों को मिटाएँ तो इसमें ही अपने को शान्ति का मार्ग मिल सकता है। विपदा तो कल्पनाजाल से उद्भूत है। जो भी विपदा मानी जाती है अनुभवी जाती है उसका प्रभाव तो जीव में ही होता है। फिर विपदा बाहर कहाँ रही? विपदा तो स्वरूप विरुद्ध कल्पना बनाना मात्र है। जो जैसा नही है, उसे वैसा समझना इसी में संकट का अनुभव है। अंतः संसार के संकटो से मुक्त होने के लिये वस्तुस्वरूप का यथार्थ अवगम करना ही अमोघ उपाय है। इस ज्ञानार्जन के उपाय से समस्त संकटो को मेट ले।

श्लोक 13

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिता।

स्वस्थं मन्यः जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा।।१३।।

मोहियों की एक जिज्ञासा—इससे पहिले श्लोक में यह कहा गया था कि इस घटी यंत्र की तरह परिवर्तनशील संसार में ये विपत्तियाँ घटी की तरह रीति भरी रहती है, अथवा यों कहो कि एक घटी तो रीत नही पाती है, दूसरी घटी रीतने लगती है। यों एक विपदा का तो अंत हो नही पाता कि दूसरी विपदा सामने आ जाती है, ऐसा सबको अनुभव भी होगा। जब जन समागम में है और परपदार्थों का कुछ आश्रय भी लिया जा रहा है तो ऐसी स्थिति में यह बहुत कुछ अनुभव किया जा रहा होगा कि एक विपदा तो खत्म नही हुई कि लो अब यह दूसरी विपदा आ गई। किसी भी किस्म की विपदा हो। सब अपने आप में अर्थ लगा सकते हैं। इस प्रसंग को सुनकर यह शंका हो सकती है कि जो निर्धन होंगे उनके ही विपदा आया करती है। एक विपदा पूरी नही हुई कि दूसरी विपदा आ गयी। इसमें तो निर्धनता ही एक कारण है। इष्ट समागम जुटा न सके तो वहाँ विपदा पर विपदा आती है, पर श्रीमंतों को क्या-क्या विपदा होगी? ऐसी कोई आशंका करे तो मानो उसके उत्तर में यह श्लोक कहा जा रहा है।

जीता जागता भ्रम—ये धन आदि के वैभव कठिनाई से उपार्जन किए जाने योग्य है और प्राणों की तरह इनकी रक्षा करे तो इनकी रक्षा होती है, तिस पर भी ये सब नश्वर है, किसी दिन अवश्य ही नष्ट होंगे, बेकार होंगे। ऐसे धन वैभव से यदि कोई पुरुष अपने को स्वस्थ मानता है तो वह ऐसा बावला है जैसे कि कोई ज्वर वाला पुरुष घी पीकर अपने को स्वस्थ माने। ज्वर का और घी का परस्पर विरोध है। ज्वर वाला धी पीकर ज्वर में फंसता ही जायगा, तो कोई ज्वर वाला रोगी घी पीकर अपने को स्वस्थ माने तो वह उसका बावलापन है, उसका तो थोड़े ही समय में प्राणांत हो जायगा। ऐसे ही धन वैभव के संग के कारण अपने को कोई स्वस्थ माने तो यह अत्यन्त विपरीत बात है।

जीव की अस्वस्थता—भैया ! पहिले तो स्वस्थ शब्द का ही अर्थ लगावो। स्वस्थ का अर्थ है स्व में स्थित होना। जो धन वैभव से अपने को सुरक्षित मानता है उसकी दृष्टि निज पर है या पर पर है, स्वपर है या अस्वपर है उसकी दृष्टि बाह्य में है। अस्व कहो, पर कहो, बाह्य कहो, एक ही अर्थ है। जो स्व न हो सो अस्व है। सो वह जीव अस्वस्थ है या स्वस्थ है जिसकी दृष्टि वैभव में फंसी है वह स्व में स्थित है या पर में स्थित है? वह तो अस्वस्थ है। हो तो कोई अस्वस्थ और माने अपने का स्वस्थ तो यह उन्मत चेष्टा है। ज्वरवान पुरुष न अभी स्वस्थ है और न घृत खाने से पीने से स्वस्थ होगा, उल्टा दुःखी ही होगा, इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव एक तो स्वयं ही स्वस्थ नही है, उसे आनन्द का साधन निज तत्त्व मिल नही पाया है जिससे वह निज में स्थित हो सके। मिथ्यादृष्टि जीव को इस निज परम तत्त्व का परिचय नही है सो यह स्वयं ही अज्ञानी होने से अस्वस्थ है और फिर धन वैभव का योग पाये, उसकी और दृष्टि लगे तो उस दृष्टि के कारण भी यह और अस्वस्थ बढ़ गया। जो अस्वस्थ है वह शान्त नही रह सकता। बाह्य पदार्थों की ओर उपयोग लगे और वहां अनाकुलता बन जाय, यह कैसे हो सकता है? उसे आकुलता हे तब तो बाह्य की और उसने बुद्धि भ्रमाई है। और बुद्धि भ्रमाई है तो इस स्थिति का रूपक आकुलता रूप ही होगा, अनाकुलता नही हो सकती है।

धन प्रसंग की कठिनाइयाँ—जिस धन वैभव के कारण यह मोही जीव अपने को स्वस्थ मानता है वह वैभव कैसा है? प्रथम तो वह बड़ी कठिनाई से उत्पन्न होता है, इस धन के चाहने वाले सभी है ना, ग्राहक है वे भी चाहते हे कि मेरे पास धन आ जाय और दूकानदार चाहते हैं कि ग्राहकों से निकलकर मेरे पास धन अधिक आ जाय, तो अब दुकानदार और ग्राहक दोनों में जब होड़ मच जाती है, सभी अपने को अधिक चाहते हैं तो ऐसी स्थिति में फिर पैसे को उपार्जन कर लेना कितना कठिन हो जाता है अथवा अन्य प्रकार की आजीविका से सभी धन कमाते हैं उनको कितना श्रम लगाना पड़ता है, कितना उपयोग और समय देना पड़ता है तब धन का संचय होता है। यह धन बड़ी कठिनता से उपार्जित किया जाता है।

धन सुरक्षा की कठिनाई—धन का उपार्जन भी हो जाए तो उसका संरक्षण करना बड़ा कठिन हो जाता है। आज के समय में तो यह कष्ट और भी बढ़ा हुआ है। धन का उपार्जन हो गया तो अब उस धन को कैसे संरक्षित रखें? हर जगह शंकायें लगी है, स्पष्ट तिजोरी में रखें तो शंका, बैंक में रखे तो शंका, कहाँ रखे, रख भी लें तो उसका उपयोग करना भी एक किसी कानून में एलाऊ नही हो रहा है। तब कैसे उसकी रक्षा की जाय? तो रक्षा करना भी कठिन हो रहा है।

धन की अन्तगति—धन कमा भी ले, और उसकी रक्षा कर भी ले तो आखिर धन छूट ही तो जायगा। जिनके लिए धन छूट जायगा वे लोग तुम्हारी मदद कर देंगे क्या? मिथ्यात्व में ही तो यह एक उपाय बन गया है कि मरे हुए आदमी की श्राद्ध की जाती है। किसी पाड़े को चारपाई चढ़ा दो तो वह उसके बाप दादा को मिल जायगी, पांडे को गाय भैंस दे दो तो गाय भैस का दूध उसके पास पहुंच जायगा। कैसी मान्यताएँ बसा दी गई

है। इससे जिन्दा रहने वालों का मिथ्यात्व भी बढ़ता जा रहा है। हम मरेंगे तो हमारे लड़के श्राद्ध करेंगे, तो हमें रोटियां आसानी से मिल जायेंगी। खूब कमा कमाकर रखें। आफत पर आफत हो रही हैं। अरे वह धन जिनके लिये छोड़ा जा रहा है वे न तो इस जीवन में कुछ काम आयेंगे और न मरने पर ही कुछ काम आयेंगे। मरने पर श्राद्ध देंगे इससे तो यही अच्छा हे कि राज़ी खुशी से जिन्दा रहते हुये में पानी भी पिला दें। ऐसे मिथ्यात्व में क्या–क्या बातें बढ़ती जाती हैं? ये धम्र के नाम पर जो लोक में पूज्य बने हैं, धर्मात्मा बने हैं, ठेकेदार बने हैं उनके भी इसमें स्वार्थ है। ऐसी प्रसिद्धि करने में पुत्री को भी स्वार्थ है और भ्रम में पड़ा हुआ यह बड़ा बूढ़ा आदमी भी स्वार्थ से ही इस परम्परा को बनाए है।

मिथ्यात्वग्रास—यह समस्त धन विनाशीक है, छूट जायगा। कुछ न रहेगा साथ, पर संचय करने में जितना उपयोग फंसाया, जितना समय लगाया, कितना अमूल्य समय था यह मनुष्य जीवन का। इन जीवन के क्षणों में से स्वाध्याय के लिए, धर्मचर्चा के लिए, ज्ञानार्जन के लिए समय कुछ भी नही निकाल सकते और जो व्यर्थ की बातें है, उनके लिए रात दिन जुटे रहते हैं। यह सब क्या है? मिथ्यात्व ग्रह से ही तो डसे हुए है। ऐसा यह कठिन धन वैभव है जिसके कारण यह अपने को स्वस्थ श्रेष्ठ और उत्तम मानता है। वास्तविक बात यह कि धन वैभव न सुख का उत्पन्न करने वाला है और न दुःख का उत्पन्न करने वाला है। ये सब सुख दुःख कल्पनावों से उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार की कल्पनाएँ यह जीव करता है उस ही प्रकार की परिणति इस जीव की हो जाती है। वास्तव में सुखी तो वास्तविक त्यागी संत जन ही है, ऐसा त्याग उनके ही प्रकट होता है जो अपने स्वरूप को त्यागमय पहिचान रहे हैं। यह मेरा, मेरे सत्त्व के कारण मेरे ही रूप, यह मैं स्वरूप, सबसे न्यारा हूं, केवल चिन्मात्र हूं, प्रकाशमय हूं। इसका जीवन उस चित्प्रकाश की वृत्ति से होता है। इस जीवन को ने पहिचान सके तो ऐसी विडम्बना बनती है कि अन्य पदार्थ के संयोग से भोजन पान से अपना जीवन माना जा रहा है।

आत्मजीवन की स्वतंत्रता—इस आत्मा का जीवन आत्मा के गुणों की वर्तना से है। है यह आकाशवत् अमूर्त निर्लेप पदार्थ, उसकी वृत्तियाँ जो उत्पन्न होती है उनसे ही यह जीता रहता है। इसका जीवन अपने आपके परिणमन से है। ज्ञानी पुरुष कही चिंतातुर नही हो सकता। अज्ञानी जन बड़े-बड़े ऐश्वर्य सम्पदा में भी पड़े हुए हो तो भी चिंतातुर रहते हैं। ज्ञानी जानता है कि यह मे तो पूरा केवल चिन्मात्र हूँ। इसका न ही कही कुछ बिगाड़ हो सकता है और न किसी दूसरे के द्वारा इसमें सुधार हो सकता है। यह तो जो है सो है, अपने आपके परिणमन से ही इसका सुधार बिगाड़ है। ज्ञानी की दृष्टि धन वैभव आदि में सुख दुःख मानने की नही होती है। वे जानते हैं कि केवल उनकी तृष्णा ही दुःख को उत्पन्न करने वाली रहे। यह चिन्मात्र मूर्ति आत्म स्वरसतः सुख को उत्पन्न करने वाला है।

स्वयं का स्वयं में कार्य और फल—भैया ! जो पर पदार्थ है वे अपना ही कुछ करेंगे या मेरा कुछ कर देंगे। वस्तुस्वरूप पर दृष्टि दो, जितने भी अचेतन पदार्थ है वे निरन्तर रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण में परिणमते रहते हैं,

यही उनका काम है और यही उनका भोग है। इससे बाहर उनकी कुछ कला नही है, फिर उनसे इस आत्मा में कैसे सुख और कैसे दुःख आ सकेगा? ये वैभव सुख दुःख के जनक नही है, कल्पना ही सुख दुःख की जनक है न्याय ग्रन्थों में उदाहरण देते हुए एक जगह लिखा है कि कोई पुरुष कारागार में पड़ा हुआ है जहाँ इतना गहरा अंधकार है कि सूई का भी प्रवेश नही हो सकता याने सूई के द्वारा भी भेदा नही जा सकता, ऐसे गहन अंधकार में पड़ा हुआ कामी पुरुष जिसे अपने हाथ की अँगुली भी नही नजर आती, किन्तु उसे अपनी स्त्री का रूप मुखाकार बिल्कुल स्पष्ट सामने झलकाता है। कहाँ है कौन? पर उसके चित्त में ऐसी ही वासना बनी हुई है कि कल्पनावश वह कुछ चिन्तन करता है अथवा विचार माफिक सुख को भोगता है अथवा कुछ कल्पना करके सुख दुःख पाता है।

सुख दुःख का कल्पना पर अवलम्बन—कोई पुरुष बड़े आराम से कमरे में बैठा हुआ है, सुहावने कोमल गद्दे तकिये पर पड़ा हुआ है, पंखा भी चल रहा है और वातानुकूलित साधन भी मिल गये हैं, इतने पर भी वह चिन्तामग्न है। पोजीशन, धन, कितनी ही प्रकार की बातें उसके उपयोग में पड़ी है। तृष्णा का तो कही अंत ही नही है। तृष्णा मे पीड़ित हुआ वह मन की छलाँगें मार रहा है और उनका प्रतिकूल परिणमन देखकर व्यग्र हो रहा है। तो किसे सुख कहते और किसे दुःख कहते? ये सब कल्पना पर अवलम्बित है। यह धन तो दुःख का पात्र है जिसके उपार्जन में दुःख है? जिसकी रक्षा में दुःख है, जिसके खर्च करने में दुःख है, सो यह धन तो इस जीव को कष्ट पहुँचाने के ही काम में आ रहा है। बाह्य पदार्थ संग में है तो उनसे कुछ न कुछ ऐसी ही कल्पना जगेगी जो असाता उत्पन्न करेगी। कभी इच्छानुसार धन का संचय भी हो जाय तो तृष्णा और बढ़ जाती है।

मायामय रोग, वेदना व इलाज—अहो, भैया, यहाँ सभी इस संसार के जीव इस रोग के रोगी है। जब-जब कुछ न था तब ऐसा सोचते थे कि इतना हो जाये फिर तो जीवन चैन से निकलेगा, फिर कुछ नही करना है, जब उतना हो गया जितना सोचते थे तो वे सब बातें विस्मृत हो गयी। अब आगे की पूरिया पूरने में लग जाते हैं इतना और कैसे हो? इतने से तो गुजारा ही नही चलता है जब इतना न था, इसका चौथाई भी न था तब कैसे गाड़ी चलती थी, पर चैन कहाँ है? लगे रहेंगे, अंत में छोड़ जायेंगे। इस समय जो मिला है वह धर्म सेवन में लगाया जाता तो अच्छा था। स्वप्न में मिले हुए राज्य की क्या कीमत? स्वप्न में मिले हुए समागम पोजीशन बढ़ रही हो तो उसकी क्या कीमत है? ऐसे ही इस अविवेक में इस मोह नींद में जो कुछ इन चर्म चक्षुवों से दिख रहा है वह सब केवल स्वप्नवत् है, कल्पनाजन्य है इसी प्रकार यहाँ आँखों से जगती हुई हालत में भी जो कुछ निरखा जा रहा है वह सब मायास्वरूप है।

बिना सिर पैर की विडम्बना—तृष्णा का आक्रमण बहुत बुरा आक्रमण है। ये मोही जन जिनमें आशा लगाये हुए है, इस संसार में जो अज्ञानियों का समूह पड़ा हुआ है, देहातों मे, नगरों मे, शहरों में विषय लिप्सा पड़े

हुए अज्ञानी जनों का जो समूह पडा हुआ हे उनमें नाम चाहा जा रहा है। किन में नाम चाहा जा रहा है पहिले तो वहाँ ही पोल निरखो और फिर जो चाहा जा रहा है उसकी भी असारता देखो। नाम का क्या अर्थ? स्वर १६ है, व्यञ्जन ३३ है, अक्षरों को कही का कही रख दिया गया और उनको पढ़ लिया गया, सुन लिया गया तो इसमें तुम्हारा स्वरूप कहाँ आया? शब्द है, जिसका जो भी नाम है उस नाम के शब्दों को थोड़ा उलट करके कही का कही रख दिया, फिर तो उस पर इस तृष्णावी पुरुष का कुछ भी आकर्षण नही है। जो कल्पना में, व्यवहार में मान लिया गया है कि यह मैं हूं उन अक्षरों से कितनी प्रीति है? कुछ नाम भी कर जायेंगे और कुछ अक्षर भी कही लिख जायेंगे तो उनसे इस मर जाने वाले का क्या सम्बंध है। और जीवित अवस्था में भी उस नाम से क्या सम्बंध है ? संसार अनादि निधन है। इस मनुष्य भव की प्राप्ति से पहिले भी हम कुछ थे अब उसका पता नही है। हम क्या थे, कहाँ थे, कैसे थे उसका अब कुछ आभास नही है। यो ही कुछ समय बाद इस भव से चले जाने पर यहाँ का भी कुछ आभास न रहेगा। फिर किसलिए यह चौबीस घंटे का समय व्यर्थ की कल्पनावों में ही गँवाया जा रहा है।

स्वस्थता और अस्वस्थता—ये अज्ञानी जीव धन वैभव से अपने को स्वस्थ मानते हैं वे ऐसे बावले हैं कि जैसे कोई ज्वर वाला घी पीकर अपने को स्वस्थ अनुभव करे, वह तो विडम्बना की निशानी है। इस जीव की विपदा का कोई रूपक भी है क्या, कि इसका नाम विपदा है। अरे कल्पना में यह जीव अत्यन्त व्याकुल है। कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते हैं कि जिनका मात्र एक पुत्र है और आगे किसी पुत्र की उम्मीद नही है, स्त्री गुजर गयी है उसका वह इकलौता बच्चा मर जाय तो भी कुछ बिरले लोग ऐसे देखने और सुनने मे आए है कि उनको तब भी कुछ चिन्ता नही होती। वे सब जानते हैं कि यह सब मायारूप है, इसमें मेरा तो कुछ भी न था। अज्ञानी जीव कल्पना करके किसी भी बात में विपदा समझ बैठते हैं और वे दुःखी होते हैं किन्तु ज्ञानी संत विवेकबल से स्वस्थ बने रहते हैं।

श्लोक 14

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।

दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत्।।१४।।

आत्मविपत्ति के अदर्शन का कारण—पूर्व श्लोक में यह बताया गया था कि सम्पदा का समागम भी मनुष्य को महाकष्ट उत्पन्न करता है, ऐसी बात सुनकर यह जिज्ञासा होनी प्राकृतिक है कि सम्पदा का समागम आपत्ति का ही करने वाला है तो फिर लोग इसे छोड़ क्यों नही देते हैं ? क्यों रात दिन सम्पदा के समागम के चक्कर में ही यत्र तत्र घूमा करते हैं ? इसकी जिज्ञासा का समाधान इस श्लोक में है। यह मूर्ख पुरुष दूसरों की विपत्ति को तो देख लेता है, जान लेता है कि यह विपदा है, यह मनुष्य व्यर्थ ही झंझट में पड़ा है, किन्तु अपने आप पर

भी वही विपदा है वह विपदा नही मालूम होती है क्योंकि इस प्रकार का राग है मोह है कि अपने आपको विषयों के साधन रूचिकर और इष्ट मालूम होते हैं, दूसरे के प्रति यह भाव जल्दी पहुंच जाता है कि लोग क्यों व्यर्थ में कष्ट भोग रहे हैं ? क्यों विपदा में है ?

आत्मविपत्ति के एक अदर्शक का दृष्टांत—अपनी भूल समझ में न आये, इसके लिए यह दृष्टान्त दिया गया है कि कोई वन जल रहा है जिसमें बहुत मृग रहते हैं, उस जलते हुए वन के बीच में कोई पुरुष फंस गया तो वह झट किसी पेड़ के ऊपर चढ़ जाता है पर चढ़ा हुआ वह पुरुष एक और दृष्टि पसारकर देख रहा है कि वह देखो हिरण मर गया, वह देखो खरगोश तड़फकर जल रहा है, चारों ओर जानवरों की विपदा को देख रहा है पर उस मूढ़ पुरुष के ख्याल में यह नही है कि जो दशा इन जानवरों की हो रही है, कुछ ही समय बाद यही दशा हमारी होने वाली है, यह चारों तरफ की लगी हुई आग हमें भी भस्म कर देगी और मेरा भी कुछ पता न रहेगा। वह पुरुष वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ दूसरों की विपदा को तो देख रहा है पर अपनी विपदा को नही नजर में ला पाता है। उसे तो यह ध्यान में है कि मैं ऐसे ऊँचे वृक्ष पर बैठा हूँ, यह आग नीचे लगी है, बाहर लगी है, यह अग्नि मेरा क्या बिगाड़ कर सकती है? उसे यह पता नही होता कि जिस प्रकार ये जंगल के जीव मेरे देखते हुए जल रहे हैं इसी प्रकार थोड़ी ही देर में मैं भी भस्म हो जाऊँगा।

आत्मविपत्ति के अदर्शक की परिस्थिति—दह्यमान वन में वृक्ष पर चढ़े हुए जन की भांति यह अज्ञानी पुरुष धन वैभव से अन्य मनुष्यों पर आयी हुई विपदा को तो स्मरण कर लेता है कि देखो उसका माल पकड़ा गया, उसका माल जप्त हो गया, यह मरने वाला है, यह मर गया, किसी पर कुछ विपदा आयी, इस तरह पकड़ा गया, उसका माल जप्त हो गया, यह मरने वाला है, यह मर गया, किसी पर कुछ विपदा आयी, इस तरह औरो की विपदा को तो निरखता रहता है, परंतु अपने धन वैभव के उपार्जन में जो विपदा सह रहा है उसे विपदा नही मालूम करता है। धन संचय में रंच भी विश्राम नही ले पाता है। हो रही है बहुत सी विपदाएँ और विडम्बनाएँ, पर अपने आपके लिए कुछ विडम्बना नही दिखती है। मोही जीव को कैसे हटे यह परिग्रह लालच तृष्णा से? इसे तो यह दोष भी नही मालूम होता है कि मैं कुछ अपराध कर रहा हूं।

अज्ञानी को स्वकीय अपराध का अपरिचय—ज्ञानी संत जानता है कि मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानानन्द है, ज्ञान और आनन्द की विशुद्ध वर्तना के अतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रवृत्ति होती है, मन से प्रवृत्ति हुई, वचनों से हुई अथवा काय से हुई तो ये सब प्रवृत्तियां अपराध है। अज्ञानी को वे प्रवृत्तियाँ अपराध नही मालूम देती, वह तो इन प्रवृत्तियों को करता हुआ अपना गुण समझता है। मुझे मे ऐसी चतुराई है, ऐसी कला है कि मैं अल्प समय मे ही धन संचित कर लेता हूं। ज्ञानी पुरुष जब कि यह समझता है कि एक ज्ञानस्वभाव के आश्रय को छोड़कर अन्य किन्ही भी पदार्थों का जो आश्रय लिया जाता हे वे सब अपराध है उससे मुझे लाभ नही है, हानि ही है। कर्मबंध हो, आकुलता हो और कुछ सार बात भी नही है। ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जानता है। न तो अज्ञानी को

धनसंचय में होने वाली विपदा का विपत्तिरूप अनुभव होता है और न जो धनोपार्जन होता है उसमें भी जो अन्य विपदाएँ आती है उनका ही स्मरण हो पाता है।

मोही के विवेक का अभाव—विवेक यह बताता है कि धन आदि के कारण यदि कोई विपदा आती देख तो उसे धन को भी छोड़ देना चाहिए। फंसने पर लोग ऐसा करते भी है। कोई कानून विरुद्ध चीज पकड़ ली जाय, जैसे कि मानो आजकल शुद्ध स्वर्ण कुछ तोलो से ज्यादा नही रख सकते हैं और रखा हुआ हो तो उस सोने का भी परित्याग कर देते हैं, जाँच करने वाले की जेब में ही डाल देते हैं कि ले जावो यह तुम्हारा है। कितनी जल्दी धन विपदा के समय छोड़ देते हैं, किन्तु वह उनको छोड़ता नही है। उस समय की सिर पर आयी हुई विपदा से बचने का कदम है। चित्त में तो यह भरा है कि इससे कई गुणा और खरीदकर यह घाटा पूरा करना पडेगा। धन वैभव के कारण भी अनेक विपदा आती है। कुछ बड़े लोग अथवा उनके संतान तो कभी-कभी इस धन के कारण ही प्राण गंवा देते हैं। ऐसे होते भी है। कितने ही अनर्थ जिन्हें बहुत से लोग जानते हैं। ये डाकू धन भी हर ले जाये और जान से भी मार जाएँ क्योंकि उनके मन में यह शंका है कि धन तो लिए जा रहे हैं, कदाचित् इसने पकड़वा दिया तो हम लोग मारे जायेंगे, इससे जान भी ले लेते हैं। आजकल किसी की जान ले लेना एक खेलसा बन गया है। छुद्र लोग तो कुछ पैसों के हिसाब पर ही दूसरों की जान ले डालते हैं। इस धन के कारण कितनी विपदा आती है, कितना ही टैक्स देना कितना ही अधिकारियों को मनाने में खर्चा करना कितना श्रम, कितनी विपदाएँ ये सब धन आदि के वैभव के पीछे ही तो होती है।

ज्ञानी का परिवर्तन—कल्याणार्थी गृहस्थ की चर्या इस प्रकार रहती है कि आवश्यकतानुसार धन का उपार्जन करना और अपने जीवन को धर्मपालन के लिए ही लगाना। ऐसा भाव बनाना चाहिए कि हम धनी बनने के लिए मनुष्य नही हुए है, किन्तु ज्ञानानन्द निज परमात्म प्रभु के दर्शन के लिए हम मनुष्य हुए है। ये बाहरी पोजीशन गुजारे की बातें ये तो जिस किसी भी प्रकार हो सकती है, किन्तु संसार के संकटों से मुक्ति का उपाय एक ही ढंग से है, और वह ढंग इस मनुष्यजीवन में बन पाता है, इस कारण ज्ञानी पुरुष का लक्ष्य तो धर्मपालन का रहता है, किन्तु अज्ञानी पुरुष का लक्ष्य विषयसाधनों के संचय और विषयों के भोगने में ही रहता है। यद्यपि धन आदि के कारण आयी हुई विपदा देखें तो धन की आशा सर्वथा छोड़ देना चाहिए क्योंकि आशा न करने से ही आने वाली विपदा से अपनी रक्षा हो सकती है। लेकिन यह धन वैभव की आशा छोड़ नही पाता है। यही अज्ञान है और यही दुःख का जनक है।

अनर्थ आवश्यकतावों की वृद्धि में बरबादी—यद्यपि वर्तमान में श्रावक की गृहस्थावस्था है, दूकान करना होता है, आजीविका व्यापार करना पड़ता है, परन्तु ज्ञानी का तो इस सम्बंध में यह ध्यान रहता है कि यह वैभव साधारण श्रम करने पर जितना आना हो आये, हममें तो वह कला है कि उसके अन्दर ही अपना गुजारा और निबटारा कर सकते हैं। अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाकर धन की आय के लिए श्रम करना यह उचित नही है,

किन्तु सहज ही जो धन आये उसे ही ढंग से विभाग करते गुजारा कर लेना चाहिए। अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाकर फिर उनकी पूर्ति के लिए धन संचय करना, श्रम करना, नटखट करना यह सज्जन पुरुष नही किया करते हैं। कितनी ही अनेक वाहियात बातें है, बीड़ी पीना, सिनेमा देखना, पान खाते रहना और बाजारू चाट चटपटी आदि छोटी-छोटी चीजें खाना—ये सब व्यर्थ की बातें है, इन्हें न करें तो इस मनुष्य का क्या बिगड़ता है, बल्कि इनके करने से मनुष्य बिगड़ता है। बीड़ी पीने से कलेजा जल जाता है और उससे कितने ही असाध्य रोगो का आवास हो जाता है, सिनेमा देखने से दिल में कुछ चालाकी, ठगी, दगाबाजी अथवा काम वासना की बातें इन सबकी शिक्षा मिल जाती है। लाभ कुछ नही देखा जाता है। इन व्यर्थ की बातो को न करें उसे कितना आराम मिले।

व्यामोह में अविवेक और विनाश—भैया ! धनसंचय की तीव्र इच्छा न रहे, एक या दो टाइम खा पी लिया, तुष्ट हो गए, फिर फिक्र की कुछ बात भी है क्या? लेकिन तृष्णावश यह पुरुष अप्राप्त वस्तु की आशा करके प्राप्त वस्तु का भी सुख नही लूट सकते हैं। वे तो मद्य के नशे में उन्मत हुए प्राणियों के समान अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। अपने हित का मोह में कुछ ध्यान नही रहता है। मत्त होने में बेचैनी पागलपन चढ़ता है, शरीरबल जैसे क्षीण हो जाता है ऐसे ही परव्यामोह में ज्ञानबल क्षीण हो जाता है। पागल पुरुष नशे में उन्मत होकर अपने स्वरूप को भूल जाते हैं, अपने हित का ध्यान नही रख सकते हैं। ऐसे ही धनी पुरुष भी दूसरों की सम्पदा, घर आदि को विनष्ट होते हुए देखकर कभी विचार नही करते कि यह काल अग्नि इस तरह मुझे भी न छोड़ेगी, अतः शीघ्र ही आत्महित कर लेना श्रेष्ठ है।

गलती को भी मानने का व्यामोह—इस जीव में ज्ञान भी प्रकाशमान हे और रागादिक के रंग भी चढ़े हुए है जिससे ज्ञान का तो उपयोग दूसरों के लिए करते हैं और कषाय का उपयोग अपने लिए करते हैं। दूसरों की रंच भी गल्ती ज्ञान में आ जाती है और उसे वे पहाड़ बराबर मान लेते हैं। अपनी-अपनी बड़ी गलती भी इन्हें मालूम ही नही होती है, ये तो निरन्तर अपने को चतुर समझते हैं। कुछ भी कार्य करे कोई, ललाका कार्य करे अथवा किसी प्रकार का हठ करे तो उसमें ये अपनी चतुराई मानते हैं। मैं बहुत चतुर हूं। खुद अपने मुँह मिया मिट्ठू बनते हैं। अपने को कलावान, विद्यावान, चतुर मान लेने से तो कार्य की सिद्धि न हो जायगी। अपनी तुच्छ बातों पर चतुराई मनाने में यह जीव अपने आपको बड़ा विद्वान समझ रहा हे। उपदेश देने भी बड़ा कुशल हो जाता है। शास्त्र लेकर बाँचने बैठा या शास्त्र सभा करने बैठा तो राग द्वेष नही करने योग्य है और आत्मध्यान करने योग्य है—इस विषयका बड़ी कला और खूबी से वर्णन कर लेता है पर खुद भी उस सब हितमयी वार्ता को कितना अपने में उतारता है सो उस और भावना ही नही है।

अज्ञानी की समझ में अपनी भूल भी फूल—भैया ! दूसरों की विपत्ति तो बहुत शीघ्र पकड़ में आ जाती है, किन्तु अपने आपकी बड़ी भूल भी समझ मे नही आती। कभी किसी जीव पर क्रोध किया जा रहा है और

उससे लड़ाई की जा रही है तो बीच-बिचौनिया करने वाला पुरुष मूढ़ जंचता है इस क्रोध को। इसे कुछ पता नही है कि मैं कितना सहनशील हूं। और यह दूसरा कितना दुष्ट व्यवहार करने वाला है? उसे क्रोध करते हुए भी अपनी चतुराई मालूम हो रही है, परन्तु दूसरे पुरुष जानते हैं, मजाक करते हैं कि न कुछ बात पर बिना प्रयोजन के यह मनुष्य कितना उल्टा चल रहा है, क्रोध कर रहा है। विषयकषायों की रूचि होने से इस जीव पर बड़ी विपदा है। बाहरी पौद्गलिक विपदा मिलने पर भी यह जीव कितना अपने मन मे विषयकषायों को पकड़े हुए है इन विषयों से जुदा हो पा रहे हैं या नही, अपने पर कुछ हमने काबू किया या नही, इस और दृष्टि नही देते हैं ये अज्ञानी पुरुष । वे तो प्रत्येक परिस्थिति में अपने को चतुर मानते हैं।

विभाव विपदा—मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ६ जातियों के जो विभाव परिणाम है यह ही जीव पर वास्तविक विपदा है। जीवों पर विपदा कोई अन्य पदार्थ नही ढा सकते हैं। ये अपनी कल्पना में आप से ही विपदा उत्पन्न कर रहे हैं। क्या है विपत्ति इस जीव पर? मोह अज्ञान कामवासना का भाव। क्रोध मान, माया, लोभ आदि के कषायों के परिणमन ये सब है विपदा। इन सब विपदावों को विपदारूप से अपनी नजर में रखना है। इन सब विपदावो से छूटने का उपाय केवल भेदविज्ञान है। जितने भी अब तक साधु हुए है वे भेदविज्ञान के प्रताप से हुए है, और जो अबतक जीव बंधे पड़े है व इस संसार में रूलते चले जा रहे हैं वे इस भेदविज्ञान से अभाव से ऐसी दुर्गति पा रहे हैं। यथार्थ विपदा तो जीव पर मोह की, भ्रम की है। भ्रमी पुरुष अपने को भ्रमी नही समझ सकता। यदि अपनी करतूत को भ्रमपूर्ण मान ले तो फिर भ्रम ही क्या रहा? भ्रम वह कहलाता है जिसमें भ्रम-भ्रम न मालूम होकर यर्थाथ बात विदित होती है भ्रम का ही नाम मोह है। लोग विशेष अनुराग को मोह कह देते हैं किन्तु विशेष अनुराग का नाम मोह नही है, भ्रम का नाम मोह है। राग के साथ-साथ जो एक भ्रम लगा हुआ है, यह मेरा है, यह मेरा हितकारी है, ऐसा जो भ्रम है उसका तो नाम मोह है और सुहावना जो लग रहा है उसका नाम राग है।

भ्रम की चोट—राग से भी बड़ी विपदा, बड़ी चोट मोह की होती है। इस मोह में यह जीव दूसरे की विपदा को तो संकट मान लेता है। अमुक बीमार है, यह मर सकता है इसका मरण निकट आ गया है, ये लोग विपदा पा सकते हैं। सबकी विपदावों को निरखता जायगा, सोचता जायगा किन्तु खुद भी इस विपदा में ग्रस्त है ऐसा ध्यान न कर सकेगा। इस भ्रम के कारण, बाह्यदृष्टि के कारण यह जीव सम्पदा से क्लेश पा रहा है और उस ही सम्पदा में यह अपनी मौज ढूंढ रहा है। ज्ञानी पुरुष न सम्पदा में हर्ष करता है और न विपदा में विषाद मानता है।

श्लोक 15

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्।

वाञ्छतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम्।।१५।।

लोभी के जीवन से भी अधिक धन से प्रेम—जिस वैभव के कारण मनुष्य पर संकट आते हैं उस वैभव के प्रति इस मनुष्य का प्रेम इतना अधिक है कि उसके सामने जीवन का भी उतना प्रेम नही करता हे। इसके प्रमाणरूप में एक बात यह रखी जा रही है जिससे यह प्रमाणित हो कि धनी पुरुषों को जीवन से भी प्यारा धन है। बैंकर्स लोग ऐसा करते हैं ना कि बहुत रकम होने पर ब्याज से रकम दे दिया करते हैं। व्याज कब आयगा, जब महीना ६ महीना, वर्षभर व्यतीत होगा। किसी को २ हजार रुपया ब्याज पर दे दिया और उसका १० रुपया महीना ब्याज आता है तो एक वर्ष व्यतीत हो तो १२० रुपया आयगा। तो ब्याज से आजीविका करने वाले पुरुष इसकी प्रतीक्षा करते हैं कि जल्दी १२ महीने व्यतीत हो जावें। समय के व्यतीत होने की ही बाट जोहते हैं तभी तो धन मिलेगा। अब देखो कि एक वर्ष व्यतीत हो जायगा तो क्या मिलेगा? ब्याज धन और यहाँ क्या हो जायगा एक साल का मरण। जिसको ५० साल ही जीवित रहना है तो एक वर्ष व्यतीत हो जायगा तो अब ४९ वर्ष ही जीयेगा।

जीवन से भी अधिक धन से प्रेम होने का विवरण—भैया ! समय का व्यतीत होना दो बातों का कारण है—एक तो आयु के विनाश का कारण हे और दूसरे धन प्राप्ति का कारण है। वर्ष भर व्यतीत हो गया इसके मायने यह है कि एक वर्ष की आयु का क्षय हो गया और तब ब्याज की प्राप्ति हुई । यो काल का व्यतीत होना, समय का गुजर जाना दो बातों का कारण है—एक तो आयु के क्षय का कारण है और दूसरे धन की वृद्धि का कारण है। जैसे ही काल गुजरता है तैसे ही तैसे जीव की आयु कम होती जाती है और वैसे ही व्यापार आदि के साधनों से धन की बरबादी होती है। तो धनी लोग अथवा जो धनी अधिक बनना चाहते हैं वे लोग काल के व्यतीत होने को अच्छा समझते हैं, तो इससे यह सिद्ध हुआ कि इन धनिक पुरुषों को धन जीवन से भी अधिक प्यारा है। वर्ष भरका समय गुजरने पर धन तो जरूर मिल जायगा पर यहाँ उसकी आयु भी कम हो जायेगी। ऐसे धनका जो लोभी पुरुष है अथवा धन जिसको प्यारा है और समय गुजरने की बाट जोहता है उसका अर्थ यह है कि उसे धन तो प्यारा हुआ, पर जीवन प्यारा नही हुआ।

लोभसंस्कार—अनादिकाल से इस जीव पर लोभ का संस्कार छाया हुआ है। किया क्या इस जीव ने? जिस पर्याय में गया उस पर्याय के शरीर से इसने प्रीति की, लोभ किया, उसे ही आत्मसर्वस्व माना। अनादिकाल से लोभ कषाय के ही संस्कार लगे है इसके कारण यह जीव धन को अपने जीवन से भी अधिक प्यारा समझता है। देखो ना समय के गुजरने से आयु का तो विनाश होता है और धन की बढ़वारी होती है। ऐसी स्थिति में जो पुरुष धन को चाहते हैं, काल के गुजरने को चाहते हैं इसका अर्थ यह है कि उन्हें जीवन की तो परवाह नहीं है और धनवृद्धि की इच्छा से काल के गुजरने को हितकारी मानते हैं। ऐसे ही अन्य कारण भी समझ लो जिससे यह सिद्ध है कि धन सम्पदा के इच्छुक पुरुष धन आदि से उत्पन्न हुए विपदा का कुछ भी विचार नहीं

करते। लोभकषाय में यह ही होता है। लोभ में विचार होता है तो केवल धनसंचय का और धन संरक्षण का । मैं आत्मा कैसे सुखी रहूं शुद्ध आनन्द कैसे प्रकट हो, मेरा परमार्थ हित किस कर्तव्य में है, ऐसी कुछ भी अपने ज्ञान विवेकी बात इसे नही रूचती है। कितनी ही विपदाएँ भोगता जाय पर जिसकी धुन लगी हुई है। उसकी सिद्धि होनी चाहिए, इस टेक पर अड़ा है यह मोही। यह सब मोह का ही एक प्रसाद है।

धनविषयक जिज्ञासा व समाधान—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि धन को इतना बुरा क्यों कहा गया है? धन के बिना पुण्य नही किया जा सकता, पात्रदान, देवपूजा, वैयावृत्य, गरीबों का उपकार ये सब धन के बिना कैसे सम्भव है? तब धन पुण्योदय का कारण हुआ ना। इसे निंद्य कैसे कहा? वह धन तो प्रशंसा के योग्य है जिस धन के कारण परोपकार किया जा सकता है। तब यह करना चाहिए कि खूब धन कमावो और अच्छे कार्य में लगावो, पुण्य पैदा करो। धन सम्पदा वैभव को क्यों विपदा कहा जा रहा है, क्यों इतनी निन्दा की जा रही है? इसके उत्तर में संक्षेपतः इतनी बात समझ लो कि ये दान पूजा जो किए जाते हैं वह धन कमाने के कारण जो पाप होता है, अन्याय होता है अथवा पाप होते हे उनका दोष कम करने के लिए प्रायश्चित स्वरूप ये सब दान आदिक किए जाते हैं, और फिर कोई मैं त्याग करूँगा, दान करूँगा इस ख्याल से यदि धनका संचय करता है। तो उसका केवल बकवाद मात्र है। जिसके त्याग की बुद्धि है। वह संचय क्यों करना चाहता है? संचय हो जाता है तो विवेक में उस संचित धन को अच्छी जगह लगाने के लिए प्रेरणा करता है, पर कोई पुरुष जान जानकर धन उपार्जित करे और यह ख्याल बनाये कि मैं अच्छी जगह लगाने के लिए धन कमा रहा हूं तो यह धर्म की परिपाटी नही है। ऐसा परिणाम निर्मल गृहस्थ का नही होता है कि मैं दान करने के लिए ही धन कमाऊँ। यदि ऐसा कोई सोचता भी है तो उसमें यश नाम की भी लिप्सा साथ में लगी होती है, फिर उसका त्याग नाम नही रहता है, इस ही बात को अब इस श्लोक में कह रहे हैं

श्लोक 16

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।

स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति।।१६।।

धनार्जन का उपहास्य बनावटी ध्येय—जो धनहीन मनुष्य दान पूजा आदि कार्यों के ध्येय से अथवा पुण्य-प्राप्ति के ध्येय से या पापों का नाश करूँगा इस ख्याल से धनोपार्जन करता है—सेवा करे, खेती करे, व्यापार करे, इन कार्यों से धन को इकट्ठा करता है वह पुरुष मानो इस प्रकार का कार्य कर रहा है जैसे कोई पुरुष ''मैं नहाऊंगा'' यह ख्याल करके, यह आशा रखकर कीचड़ लपेटता है। मैं नहाऊंगा सो कीचड़ लपेटना चाहिए ऐसा कौन सोचता है? संसार के अधिकांश जीवों की यह धारणा रहती है कि धन की प्राप्ति के लिए यदि निन्द्य से निन्द्य भी कार्य करने पड़े तो भी उनको करके धनका संचय कर लें और उस धनसंचय में, उस अन्याय कर

लेने में जो पाप लगेंगे उन पापों को धोने के लिए या उसके बदले में धन का दान देकर, देवपूजा करके, गुरुभक्ति करके, सेवा करके, परोपकार करके पुण्य प्राप्त कर लेंगे परन्तु ऐसा ख्याल करना ठीक नही है। इसका कारण यह है कि जो कुमार्ग से धनसंचय करता है वह तो अज्ञानी पुरुष है।

दृष्टान्त विवरण सहित अनाड़ी के अविवेक का प्रदर्शन—भैया ! जिसको कुछ भी विवेक जगा है वह कुमार्गों से धनका संचय न करेगा। जैसे कोई पुरुष मैं नहा लूंगा, ऐसा अभिप्राय करके शरीर में कीचड़ को लपेटता है तो उसे दुनिया के लोग विवेकी न कहेंगे। कीचड़ लपेटे और नहाये तो उससे क्या लाभ है? ऐसे ही पाप करके धनसंचय करे और वह मनमें यह समझे कि मैं इस धन को दान, परोपकार, सेवा आदि के अच्छे कार्यों में खर्च कर दूँगा और करे खोटे मार्ग से धन का संचय, तो वह तो अज्ञान अंधकार से घिरा हुआ है, और वह जो अच्छे कार्यों में लगाने की बात सोच रहा है सो उसकी दृष्टि में अच्छे कार्यों का ख्याल ही नही है। वहाँ भी केवल मान पोषण, लोभ पुष्टि आदि ही लगे हुए है। कदाचित् भाग्यवश धन भी मिल जाय तो खोटे रास्तों से, कुमार्ग से, छल करके, अन्याय करके, दगा देकर किसी भी प्रकार धनसंचय करता है तो उसका धन पाप कार्यों में ही लग सकता है, अच्छे कार्यों में लगने की अत्यन्त कम सम्भावना है। लोग भी प्रायः इस प्रकार देखते हैं कि जिनकी कमाई खोटी होती है, खोटी कमाई से धन का संचय होता है तो वह वैसा पाप कार्यों में लगकर खर्च हो जायगा। अथवा किन्ही झंझटों से किन्ही प्रकारों से लूट पिटकर नष्ट हो जायगा, अच्छे कार्यों में वह नही लग पायगा।

शुद्ध अर्जन से धन की अटूट वृद्धि की अशक्यता—नीतिकार कहते हैं कि सज्जनों की सम्पत्ति शुद्ध धन से नही बढ़ पाती है। जैसे समुद्र स्वच्छ जल की नदियों से नही भरा जाता है, गंदा पानी मटीला मैला पानी से समुद्र भरा करता है। स्वच्छ निर्मल जल से नदियों की भरमार नही होती है। गंदले मलिन जलसे ही नदियाँ भरी होती है और उन नदियों से ही समुद्र भरा जाता है। यो ही समझिये कि सज्जन पुरुष भी हो उस तक के भी सम्पदा एकदम बढ़ेगी तो शुद्ध मार्ग से न बढ़ेगी। धनसंचय में कुमार्गों का आश्रय लेना ही पड़ता है। ठीक है। अध्यात्मदृष्टि से तो आत्मतत्त्व की दृष्टि को छोड़कर किन्ही भी बाह्य पदार्थों की दृष्टि लगाये, उनकी आशा करें तो वे सब अनीति के मार्ग है, कुमार्ग है लेकिन जिस पद में संचय के बिना गुजारा नही हो सकता ऐसे गृहस्थ की अवस्था में कोई और उपाय नही है। उसे धनका संचय अथवा उपार्जन करना ही पड़ता है। ठीक है, लेकिन इतना विवेक तो होना चाहिये कि लोक में जो अनिहित मार्ग है, कुमार्ग है उनसे धन संचय न करे। विशुद्ध नीति मार्ग से ही धनका उपार्जन करे।

यथार्थ सचाई के बिना ऐहिक कठिन समस्या—आज के समय में आजीविका की कठिन समस्या सामने है। लोग जैसे कि कहते हैं कि ब्लेक किए बिना, टैक्स चुराये बिना दो तरह की कापियाँ लिखे बिना कोई धन कमा ही नही सकता है, वह सुख से रोटी भी नही खा सकता है, उस पर टैक्स का अनुचित बोझ लद जाता

है। इस सम्बन्ध में प्रथम तो बात यह है कि यह व्यापारी ईमानदार है, सच्चा है यह प्रमाण नही है, इस कारण अनाम सनाप टैक्स लगा दिया जाता है जिन पुरुषों के सम्बन्ध में यह निर्णय भली प्रकार हो जाता है और जिनकी सच्चाई के साथ सारे कागजात पाये जाते हैं तो कुछ वर्षों में उसकी सच्चाई का ऐसा ढिंढोरा हो जाता है कि लोग उसे समझते हैं कि यहाँ सत्य बात होती है। तो उसके व्यापार में कमी नही आती है और न फिर अधिकारी उसे सताते हैं। लेकिन जब अधकचरे ढंग से कुछ सच्चाई काम करे कुछ संदेह है सो कभी-कभी कुछ डिग जाये सो ऐसे डगमग पग से सच्चाई की व्यवस्था की जाती है उससे पूरा नही पड़ता है तो कम से कम अंतरंग में तो सच्चाई रखे। जैसे कि वस्तु पर जितना लाभ लेना है उस पर उतना ही लाभ रखे। यह मनमें भावना न करे कि मैं किसी का नीति सीमा से भी अधिक धन ले लूँ।

व्यापारिक सच्चाई का आधुनिक एक उदाहरण—जो सर्वथा सत्यव्यवहार करते हैं व जो निर्णय में सत्य व्यवहार करते हैं, बहुत जगह मिलेंगे इस तरह के मनुष्य। पहिले प्रकार का मनुष्य मुजफ्फरनगर में जाना गया था। सलेखचंद स्टेशनरी की दूकान कितनी बड़ी है? तो वकील थे राजभूषण, जो अब भी है। बोले कि तीन चार फुट चौड़ी और ४.५ फुट लम्बी है सलेकचन्द बोले कि साहब इसके पीछे एक हाल भी है जज सुन बड़ा हैरान हो गया, कही दुकानदार को ऐसा करना चाहिए ? फिर जज पूछता है कि राज कितने की बिक्री होती है? तो वकील कहता है कि कभी २० रु. की, कभी ३० रु. की और कभी ५० रु. की। जब जज ने सलेखचंद की और देखा तो सलेखचन्द कहते है—हाँ साहब कभी २० रु. की बिक्री होती है कभी ३० की होती है कभी ५०, की होती है और कभी ५०० रु. तक की भी हो जाती है। और भी जज ने एक दो प्रश्न किया। तो जज कहता है कि वकील साहब ! तुम कितना ही भरमावो, पर यह धनी तो अपनी सच्चाई पर ही कायम है। धनी का ही वकील था। तो उस जज ने उसी हिसाब से टैक्स लगाया जो सलेखचंद की बही में था और यह नोट कर दिया कि हमने ऐसा सत्य पुरुष अभी तक नही देखा।

लेनदेन के समय की सच्चाई का एक आधुनिक उदाहरण—दूसरी बात यह है कि भले ही ग्राहकों से कुछ भाव ताव की बात करे पर जब तय हो जाय और माल दिया जाने लगे तो ज्यादा दाम अगर आ रहे हो तो उसके दाम वापिस कर दे। ऐसे भी कई होते हैं, अभी भादों में जो बाबूलाल हरपालपुर के आये थे। उनके ऐसा नियम है। कोई कपड़ा दो रूपया गज का पड़ा हो और सवा दो रुपया गज देना हो तो भाव ताव करने पर यदि २।।रु. गज ठहर गया तो देते समय २।।रु. गज के दाम रखकर फिर ४ आने गज के दाम वापिस कर देते हैं। ग्राहक कुछ कहता है तो वह कहते हैं कि हमारा नियम है हम इतने से ज्यादा नही ले सकते। यदि ग्राहक ने कहा कि ठहराया तो इतने का ही था ना, तो वह कहते कि सभी दूकानदार भाव ठहराते, हम न ठहराये तो ग्राहक न आये, सो भाव ठहराना पड़ता है, पर हम अपने नियम से ज्यादा नही ले सकते । तो दूसरे नम्बर की यह भी सच्चाई है।

ज्ञानी का चिन्तन—जो अंतरंग में केवल धनसंचय करना, किसी भी प्रकार हो, अधिक से अधिक दूसरों का धन आना ही आना चाहिए ऐसा परिणाम हो तो वहां सन्मार्ग तो अपनाया ही नही जा सकता। ज्ञानी संत तो यो विचारता है कि जो धन चाहते हैं वे धन की अप्राप्ति में दुःखी होते हैं। जो धनी है उन्हें तृप्ति नही होती है इस कारण दुःखी है। सुखी तो केवल आकिंचन्य आत्मस्वरूप को अपनाने वाले योगी जन होते हैं। सम्पत्ति और विपत्ति ये दोनों ही ज्ञानी पुरुषों के लिए एक समान है। विपत्ति को भी वे औपाधिक चीज मानते हैं और क्लेश का कारण मानते हैं। इस धन को पुण्य का उत्पादक समझना भ्रम है यदि यह धन पुण्य का उत्पादक होता तो बड़े-बड़े महाराज चक्री आदि क्यों इसका परित्याग कर देते? विवश होकर धन कमाना पड़ता है तो विवेकी जन उस अपराध के प्रायश्चित में अथवा उस अपराध से निवृत्त होने की टोह में ऐसा परिणाम रखते हैं। जिससे दान और उपकार में धन लगता रहता है।

आनन्दसमृद्धि का उपाय—हे आत्मन्! यदि तुझे आनन्द की इच्छा हो तो परपदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि का परित्याग कर और शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप निज तत्त्व का परिचय कर। शुद्ध अनादि अनन्त स्वभाव आत्मा के आश्रय से ही प्रकट होता है। आनन्दमय आत्मतत्त्व को रखनेवाले उपयोग में ऐसी पद्धति बनती है जिससे आनन्द ही प्रकट होता है वहाँ क्लेश के अनुभव का अवकाश ही नही है। जो पुरूषार्थी जीव सत्य साहस करके निर्विकल्प ज्ञानप्रकाश की आस्था रखते हैं उन्ही का जीवन सफल है। आनन्द आनन्दमय परमब्रह्म की उपासना में है। आनन्द वास्तविक समृद्धि में है। समृद्धि सम्पन्नता होने का नाम ही आनन्द है। परमार्थ समृद्धि सम्पन्नता में निराकुलता होती ही है। यह सम्पन्नता त्यागमय स्वरसपरिपूर्ण आत्मतत्त्व के अवलम्बन से प्रसिद्ध होती है।

श्लोक 17

आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।

अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः।।१७।।

भोग के उद्यम में हैरानियां—ये विषयों के साधन प्रारम्भ में, मध्य में, अंत मे सदा दुख के ही कारण होते हैं, फिर भी मोही जीव दुःखों को भोगते जाते हैं और उन भोगसाधनों से ही रति करते रहते हैं। ये भोग आरम्भ में संतोष उत्पन्न करते हैं। भोगों के साधन जुटाने के लिए कितना उद्यम करना पड़ता है? कमाई करे, रक्षा करे, चीजें जोड़े, कितने क्लेश करते हैं, एक बढ़िया भोजन खाने के लिए २४ घंटे पहिले से ही तैयारियाँ करते हैं और फल कितना है, उस भोजन का स्वाद कितनी देर को मिलता है, जितनी देर मुख में कौर है। वह कौर गले के नीचे चला गया, फिर उसका कुछ स्वाद नही। पेट में पड़े हुए भोजन का स्वाद कोई नही ले सकता है। और फिर उनके साधन जुटाने में कितना श्रम करना पड़ता है? आज बडे-बडे लोग हैरानी का अनुभव कर रहे हैं कि बडे विचित्र कानून बन रहे हैं, टैक्स लगा रहे हैं, मुनाफा नही रहा, पर उनकी और दृष्टि नही है जो

४०-४५ रुपया माह पर दिन भर जुटे रहते हैं। कैसे दृष्टि हो, दृष्टि तो विषयसाधनों के भोगने की है। ये भोगों के साधन आरम्भ में संताप उत्पन्न करके शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश के कारण होते हैं। सेवा, वाणिज्य कितनी ही प्रकार के उद्यम करने पड़ते हैं तब भोगो के साधन मिल पाते हैं।

भोग से अतृप्ति व समय की बरबादी—जब ये भोग प्राप्त हो जाते हैं तब भोगते भी तृप्ति नही होती है। कोई सा भी भोग आज खूब भोग लो, कल से विकल्प न करना, कोई कर सके ऐसा तो खूब भोग भोगों, पर ये भोग ऐसे बुरे है कि ज्यों भोगो त्यों अतृप्ति होती है। तृप्ति नही होती है। भोग भोगने में भोग नही भोगे गये, यह भोगने वाला खुद भुग गया। भोग का क्या बिगड़ा? वह पदार्थ तो जो था सो है। अथवा किसी भी प्रकार का उनमें परिणमन हो वे पुद्गल के विकार है उनका क्या बिगाड़ा? बिगड़ा तो इस भोगने वाले का। जीवन गया, समय गुजरा, मनुष्यभव खोया, जिस मनुष्यभव में ज्ञान की लौ लगायी जाती तो जरा जानने का हिसाब लगावो, दस-दस अक्षर ही रोज सीखते तो साल भर में मान लो। ३।।हजार अक्षर सीख लेते और समझ की उम्र कितनी निकल गयी, मान लो ४० वर्ष निकल गयी तो ४० वर्ष में कितने अक्षर सीखते इसका अंदाज तो लगावो। बड़े-बड़े साधु संत अपनी बड़ी बुद्धि वैभव से जो कुछ उन्होने पाया, सीखा, अनुभव किया उसका निचोड़ लिख गये हैं, पर उनके इस सारभूत उपदेश को सुनने, बांचने देखने तक की भी हिम्मत नही चलती। क्या किया मनुष्य जन्म पाकर?

भोग से अतृप्ति की वृद्धि—ये भोग जब भोगे जा रहे हो तो ये असंतोष को ही उत्पन्न करते हैं। उनके भोगने की फिर बार-बार इच्छा हो जाती है। किसी देहाती पर आपको यदि क्रोध आ रहा हो उसके किसी असद्व्यवहार के कारण, तो उसको बरबाद करने की मन में आती है ना, तो उसको बिल्कुल बरबाद आप कर दे, उसका उपाय तो यह है कि कुछ मिलने लगे तो बस वह अपने जीवन को बरबाद कर डालेगा। उसे बरबाद ही करना है तो यह है उपाय। उसे चखा दो कोई भोग तो वह विषयसाधनों में बरबाद हो जायेगा। लोग विषय भोगकर अपनी बड़ी चतुराई मानते हैं, मैने ऐसा भोगा, ऐसा खाया बहुत रसीली चीजें खाने वाले व्यक्ति अंत में बहुत बुरी तरह से रोगी हो सकते हैं। और रूखा सूखा संतोष भर खाने वाले पुरुष कहो चंगे रह सकते हैं।

भोग में व्यग्रता—भैया ! काहे का भोग भोगा, कौन सी चतुराई पा ली ? ये भोग असन्तोष को ही उत्पन्न करते हैं। भोग भोगते समय शान्ति नही रहती है। कोई सा भी भोग हो, वह शान्ति के साथ नही भोगा जाता है। चाहे खाने का भोग हो, चाहे सूंघने का भोग हो, चाहे किसी रमणीक वस्तु को देखने को भोग हो, चाहे कोई राग रागिनी भरे शब्दों के सुनने का भोग हो, चाहे कामवासना का भोग हो, कोई भी भोग शान्ति के साथ नही भोगा जा सकता है। भोगते समय व्यग्रता और आकुलता नियम से होती है। भोगने का संकल्प बने तब व्यग्रता, भोग भोगों तब व्यग्रता और भोग भोगने के बाद भी व्यग्रता। आदि से अंत तक उन भोगो के प्रसंग में क्लेश ही क्लेश होते हैं।

भोग से अतृप्ति का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—भोग भोगने से तृप्ति नही होती है। जैसे अग्नि कभी ईधन को खा-खाकर तृप्त नही हो सकती है, जितना ईधन बढ़े उतना ही आग की ज्वाला बढ़ेगी, ऐसे ही इन इन्द्रिय के विषयो के भोगो से भी कभी तृप्ति नही होती ज्यों-ज्यों विषय मिले त्यों-त्यों अतृप्ति होती है। संसार में सब जीव एक से दुःखी है, गरीब और अमीर दोनों एक से दुःखी है। उनके दुःख की जाति में थोड़ा अन्तर है, पर दुःख का काम क्या है? विह्वल बना देना। सो यह बात गरीब और अमीर दोनों में एक समान होती है। गरीब भूख के माने तड़फ पर विह्वल होता है तो अमीर लोग मानसिक वेदनावों में, ईर्ष्या तृष्णा की ज्वालावों में जलकर दुःखी रहते हैं। बल्कि गरीब के दुःख से अमीर के दुःख बढ़े है। गरीब हार्ट फेल होने से मर जायें ऐसे कम उदाहरण मिलते हैं और हार्ट फेल होकर मर जाने वाले धनिकों के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

देवों के भी भोग से तृप्ति का अभाव—कहाँ है सुख, सब एक तरह के दुःख है। मनुष्यों की बात तो दूर जाने दो, देवता लोग जिनको भूख प्यास का संकट नही, जिन्हें खेती दुकान आदि का आरम्भ नही करना पड़ता है, मनमाने श्रृंगार, वस्त्र, आभूषण उन्हें मिले हुए है। जो चाहें वह वस्तु उनको तुरन्त हाजिर है, फिर भी वे दूसरों की ऋद्धियाँ देखकर, सम्पदा देखकर, वैभव देखकर दुःखी होते हैं। कोई हुकुम देकर दुःखी होता है तो कोई हुकुम मानकर दुःखी होता हे। दुःखी दोनों समान है। उन देवो में जो देव हुकुम दिया करते हैं वे हुकुम देकर दुःखी रहते हैं और हुकुम मानने वाला भी अपनी कल्पना से दुःखी रहा करता है। ये भोग भोगते समय अतृप्ति उत्पन्न करते हैं।

भोगवियोग में विक्षोभ—भोग भोग भी लिये जाये, पर जब इनका अंत होता है तो उस समय यह छोड़ना नही चाहता भोगों को और भोग छूटे जा ही रहे हैं। यह खुद मरता है तो सारा का सारा एकदम छूट रहा है। यह छोड़ना नही चाहता कोई क्या एक दमड़ी भी साथ ले जा सकता है, कहाँ ले जाता है? मनुष्य कमीज पहिने मर गया तो कमीज यही रह गयी जीव चला जाता है। कोई गद्दा तक्की पर पड़ा हुआ मर गया तो सब गद्दा तक्की यही धरे रह जाते हैं, जीव यो ही चला गया। सब चीजें यो ही छूट जाती है। देखने में सब आता है, पर इस मोही जीव को इन भोगो के छोड़ने को साहस नही होता है। ज्ञानी पुरुष ही यह साहस कर सकता है कि सब कुछ जाता है तो जावो, ये मुझसे गये हुए तो पहिले ही थे। पहिले मैं इनमें मिला ही कहाँ था? आदि, मध्य अंत तीनों ही अवस्थावों से किसी एक अवस्था में ही अगर भोगो से सुख मिलता होता तो चलो तब भी भोगों को अच्छा मान लिया जाय पर यहाँ तो सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है सुख का तो नाम ही नही है। आरम्भ मे क्लेश, खेती करना, दुकान करना, शरीर का श्रम करना, इन्द्रिय और मन का कष्ट सहना वहाँ भी क्लेश ही है।

भोग से तृष्णा का प्रसार—जब भोग भोगे जाते हैं, इष्ट भोगो की प्राप्ति होती है तो यह तृष्णा सर्पिणी की तरह चंचल होकर भोक्ता को अशान्त बनाए रहती है। जैसे-जैसे भोग भोगे जाते हैं यह तृष्णा शान्त हो जायगी, बढ़ती

जाती है तृप्ति नही होती है। कदाचित् कोई सोचे कि इस इष्ट के भोगने से तृष्णा शान्त हो जायगी, तृष्णा शान्त होने से मैं संतुष्ट हो जाऊंगा सो यह सम्भव नही है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि इस समय विषयो को भोगा, वेदना, पीड़ा, कषाय, शान्त हो जायगी, फिर आगे उपद्रव न रहेगा उसका सोचना झूठ है। अरे इसी समय भोगो से विरक्त हो तो शान्ति का मार्ग निकालोगे अन्यथा नही। ये भोग आखिर छूट ही तो जाते हैं, फिर भी इन भोगो से तृप्ति नही मानी जा पाती, संतोष नही हो पाता। आग में कितना ही काठ डालो तृण डालो, पर वह तृप्त नही हो सकती। कदाचित् अग्नि तृप्त हो जाय, पर यह मोही प्राणी भोगों से कभी तृप्त नही हो सकता। सैकड़ो नदियां मिल जाये तो भी समुद्र तृप्त नही होता , बल्कि वह बड़ा होता जायगा। समुद्र नदियों से तृप्त नही होता है। कदाचित् समुद्र भी तृप्त हो जाय लेकिन यह मनुष्य भोगों से तो कभी भी तृप्त नही हो सकता।

विवेकी जनों की भोगों से उपेक्षा—जो मनुष्य मूढ़ है, हित अहित का जिनके विवेक नही है वे भोगों के भोगने के समय भोगों को सुखकारी मानते हैं और भोगो में ही प्रीति बढ़ाते हैं लेकिन जो निर्मल चित्त है, विवेकी है, परीक्षक है वे इन क्लेशकारी विनाशीक भोगो की और नही भागते किन्तु आत्महितकारी रत्नत्रय मार्ग की ओर ही प्रगति करते हैं कोई यहाँ प्रश्न करने लगे कि बड़े-बड़े विद्वान बुद्धिमान भी तो विषयों को भोगते हुए देखे जाते हैं । यहाँ विषय शब्द से सभी इन्द्रियों का विषय होना है। भोजन भी आ गया, सुगंधित चीजें भी आ गयी, राग रागिनी सुनना, सभी विषयों की बात है। कोई जिज्ञासा करे कि बड़े-बड़े विद्वान लोग भी भोगो को भोगते रहे। पुराणों में भी भोगों के भोगने की कथा सुनी जाती है, फिर तुम्हारा यह उपदेश कैसे संगत होगा? ठीक है लिखा है पुराणों में। तो भी भोगों का तजना शूरों का काम है, आखिर उन महापुरुषों में भी अनेकों ने आखिर भोगों को तज भी तो दिया है। और जब भोग भी रहे थे तो वे विवेकी सम्यग्दृष्टि संत पुरुष उस काल में यद्यपि गृहस्थावस्था में चारित्र मोहनीय के उदयवश भोगो को छोड़ने में असमर्थ रहे लेकिन तब भी उनके अंतरंग से राग न था। जिनके सम्यग्ज्ञान हो गया है, भ्रम नष्ट हो गया है उनको फिर भ्रान्ति नही होती।

ज्ञानी के भोग से विरक्ति—अज्ञानी पुरुष ही इन भोगो को हितकारी समझते हैं और आसक्ति से सेवते हैं। ज्ञानी पुरुष भोगो को विपदा मानते हैं, भोगना पड़ता है भोग, फिर भी अन्तर में यह चाह रहती है कि कब इनसे निपट जाये, छुट्टी मिले। जैसे कैदी जेलखाने में चक्की पीसता है, किन्तु उसको चक्की पीसने में अनुराग है क्या ? रंच भी अनुराग नही है। जैसे घर में महिलाएँ चक्की पीसने के लिए जगती है और गाकर चक्की पीसती है तो उनको चक्की पीसने में अनुराग है पर कैदी को रंच भी अनुराग नही है। उसे तो चक्की पीसनी पड़ती है। वह तो जानता है कि यह एक आपदा है, इससे मुझे कब छुट्टी मिले। इसी प्रकार ये भोग विषय चक्की पीसने की तरह है। यह जीव इस समय कैदी हुआ है, शरीर और कर्म के बन्धन में पड़ा है। वह जानता है कि ये आपदामय भोग मुझे भोगने पड़ रहे हैं किन्तु इनसे छुटकारा कब मिले, कैसे मिले, इस यत्न में भी वह बना रहता है।

विवेकी और अविवेकी की दृष्टि का सुख—भैया ! विवेकी और अविवेकी में बड़ा अन्तर है। दाल में कभी नमक ज्यादा पड़ जाय तो लोग क्या कहते हैं कि दाल खारी है। अरे यह तो बतलावो कि दाल खारी है कि नमक खारा है। जरा सी दृष्टि के फेर में कितने अर्थ का अन्तर हो गया है। समझदार जानते हैं कि इसमें जो खारापन है वह नमक का है । कही मूंग, उड़द आदि नमकीन नही होते हैं। ऐसे ही यह ज्ञानी जानता है कि ये जितने रागद्वेष विषय है ये सब कल्पना के सुख है, ये मेरे रस नही है, मेरे स्वाद नही है। ये कर्मोदयजन्य विभाव है। इनमें वह शक्ति नही होती है।

भोग के त्याग की भावना का परिणाम—भैया ! पुराणों में जो चरित्र आए है भोग भोगने के, उनमें अंत में त्याग की भी तो कहानी है। उससे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि ऐसे बडे भोग भोगने वाले भी इन भोगों को छोड़कर शान्त हो सके हैं। जो विशिष्ट विवेकी पुरुष होते हैं वे आरम्भ से ही विषयों को बिना भोगे ही जीर्ण त्रण के समान असार जानकर छोड़ देते हैं। जैसे कपड़े में कोई जीर्ण तृण लगा आया हो, त्यागियों के पास आप बैठे हो और आपके कोट में कोई तिनका आ गया हो, चलते हुए रास्ते में आपको अपने कोट पर पड़ा हुआ तिनका दिख जाय तो आप उसे कैसा बेरहमी से बेकार जानकर फेंक देते हैं। तो जैसे जीर्ण तृण को इस तरह लोग फेंक दिया करते हैं ऐसे ही अनेक विवेकियों ने इस वैभव को भी जीर्ण तृण के समान जानकर शीघ्र ही अलग किया है। जो भोग तज देते हैं और आनन्दमय अपने आत्मस्वरूप में अपने को निरखते हैं उनका ही जीवन सफल है। भोग भोगने वाले का जीवन तो निष्फल गया समझना चाहिए।

तीन प्रकार के त्याग में जघन्य त्याग—इन भोगों को कोई पुरुष भोगकर अंत में लाचार होकर त्यागते हैं और कोई पुरुष वर्तमान भोगों को भी त्याग देते हैं और कोई ऐसे उत्कृष्ट होते हैं जो भोगने से पहिले ही उन्हें त्याग देते हैं। एक ऐसा कथानक चला आया है कि तीन मित्र थे। वे एक साथ स्वाध्याय करते थे, उनमें एक बूढा था, एक जवान था और एक बालक किशोर अवस्था का था। तीनों में यह सलाह हुई कि अपने में से जो कोई विरक्त हो वह दूसरे को आग्रह करता हुआ जाये और उन्हें भी सम्बोधे। उनमें से जो वृद्ध महाराज थे उनके मन मे आया कि थोड़ा सा ही जीवन रहा है, अब विषय कषायों का त्याग कर धर्म सेवना चाहिए। तो उस वृद्ध ने एक साल तक इस बात का यत्न किया, जो सम्पदा थी, बहिन को, बुवा को, धर्म काज में, भाइयों में, लड़कों को जो कुछ बाँटना था उस बंटवारे मे ६-७ महीना समय लगाया। बाद में फिर उनकी व्यवस्था देखी कि हाँ सब लोग ठीक काम करने लगें, तब वह विरक्त होकर चलता है।

मध्यम त्याग—वृद्ध विरक्त जा रहा है, रास्ते में उस जवान की दुकान मिलती थी। वह दुकान पर बैठा हुआ था, खुली दुकान चल रही थी। दुकान में जब वह वृद्ध पहुँचा तो बोला कि हम तो विरक्त हो गए है इसलिए अब नगर छोड़कर जा रहे हैं। तो वह युवक बोला कि हम भी साथ चलते हैं। सो दुकान छोड़कर साथ चलने लगा तो वह वृद्ध कहता है कि अरे लड़कों को बुला तो, इस दुकान का हिसाब किताब समझा दो, क्या लेना

है, क्या देना है तब चलो, तो युवक बोला कि जिस चीज को छोड़ना ही है तो उसे फिर क्या संभलवाये? वह वृद्ध बोला कि हम सब संभलवाकर आये हैं। जवान बिना संभलवाएं दुकान से उठकर चल दिया।

उत्कृष्ट त्याग—वृद्ध और युवक दोनों विरक्त होकर जा रहे हैं। वह २० वर्ष का बालक कही बड़े खेल में शामिल हो रहा था। उस खेलते हुए बालक से ये दोनों कहते हैं कि अब तो हम विरक्त हो गए है, जा रहे हैं। तो वह हांकी डंडा जो कुछ था वही फेंककर बोला कि हम भी चलते हैं। दोनों बोले कि अभी तुम्हारी कल परसों सगाई हुई है और १०-१५ दिन तुम्हारी शादी के रह गए है, तुम अभी रहो, फिर सोच समझकर आना। तो लड़का बोलता है कि जो चीज छोड़ने लायक है उस चीज में पहिले हम फँसे और फिर छोड़े, तो इससे क्या लाभ है? वह वही से चल दिया। तो ये तीन प्रकार के लोग है। सबसे बढ़िया कौन रहा? बालक उसके बाद जवान और तीसरा विरक्त तो हुआ मगर उन दोनों में सबसे हल्का कौन रहा? बुड्ढा।

उत्तरोत्तर त्याग की महत्ता—जो भी त्यागी जन हुए है उनमें से किसी ने तो इन विषयभोगों की तृण के समान तजकर अपनी लक्ष्मी अर्थी जनों को दे दी, जो चाहने वाले थे या जहाँ लगाना चाहिए वहाँ लगाकर, देकर चल दिया। और कुछ पुरुष ऐसे हुए कि इस धन सम्पदा को पापरूप तथा दूसरों को भी न देने के योग्य समझकर किसी को न दिया, यो ही छोड़ छोड़कर चल दिया, अब जिसके बंटवारे में जो होता है हो जायगा। कोई पुरुष घर में रहता हुआ अचानक ही मर जाय, कुछ समझा भी न पाये तो उसकी गृहस्थी का क्या होता है? जो होना है वह हो जाता है। कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि उस वैभव को दुःखदायी जानकर पहिले से ही ग्रहण नही करते हैं। इन तीनों प्रकार के त्यागी पुरुषों में उत्तरोत्तर के त्यागी श्रेष्ठ है।

वज्रदन्त चक्री के वैराग्य का निमित्त—एक कथानक प्रसिद्ध है—एक बार वज्रदन्त चक्रवर्ती सभा में बैठे हुए थे, एक माली एक कमल का फूल लाया। उस फूल के अन्दर मरा हुआ भंवरा पड़ा हुआ था। ये कमल के फूल दिन में तो फूले रहा करते हैं और फूले हुए वे कमल रात्रि को बंद हो जाते हैं, फिर जब दिन होता है तो फिर वे फूल जाते हैं। कोई कमल बहुत दिनों का फूला हुआ हो, बूढ़ा हो गया हो वह तो फिर बंद नही होता, मगर जो दो एक दिन के ही फूले कमल हो वे रात्रि के समय बंद हो जाते हैं कोई भंवरा शाम से पहिले उस कमल में बैठ गया, उसकी सुगंध में आसक्त होकर वह उड़ न सका, कमल बंद हो गया। वही कमल माली तोड़कर सुबह लाया और राजा को भेट किया। राजा ने, चक्रवर्ती ने उस कमल को थोड़ा हाथ से खोलकर देखा तो मरे हुए उस भंवरे को देखा। उस भंवरे को देखकर वज्रदंत को वैराग्य जगा।

वज्रदन्त चक्री का वैराग्य—अहो यह भंवरा घ्राण इन्द्रिय के विषय में क्षुब्ध होकर अपने प्राण गवां चुका है और-और भी चिंतन किया। मछली रसना इन्द्रिय के विषय में लोभ में आकर प्राण गवां देती है, हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के लोभ में आकर प्राण गवां देता है, ये पतंगे नेत्र इन्द्रिय के विषय में लुब्ध होकर अपने प्राण गवां देते

हैं। हिरन, सांप आदि संगीत प्रिय पशु कर्ण इन्द्रिय के लोभ में आकर जान गवां देते हैं। ये जीव केवल एक-एक विषय के लोभी है, एक-एक विषय में अपने प्राण नष्ट कर देते हैं, किन्तु यह मनुष्य पंचेन्द्रिय के विषयों का लोभी है। इसकी सभी इन्द्रियाँ प्रबल है। राग सुनने, रूप देखने, इत्र सुगंध सूंघने, स्वादिष्ट भोजन करने आदि का बड़ा इच्छुक है, कामवासना के साधन भी यह चाहता है, और इन इन्द्रियों के अतिरिक्त मन का विषय तो इसके बहुत प्रबल लगा हुआ है। मन और पंचेन्द्रियां के विषयो का लोभी यह मनुष्य है, इसका क्या ठिकाना है? यो विचारते हुए वज्रदन्त चक्रवती विरक्त हो गए।

वज्रदन्त चक्री के पुत्रों का वैराग्य—वज्रदंत चक्रवर्ती के हजार पुत्र थे। बड़े पुत्र से कहा कि तुम इस राज्य को संभालो, हम तुम्हें तिलक करेंगे। बड़ा पुत्र बोला कि पिताजी आप मुझे क्यों राज्य सम्पदा दे रहे है? आप बड़े है आप ही इसे संभाले, हम तो आपके सेवक है। वज्रदन्त बोले कि नही मुझे राज्य सम्पदा से मोह नही रहा। मैं आत्म कल्याण के लिए वन में जाऊंगा, यह राज्य सम्पदा अब मुझे रूचिकर नही हो रही है, यह अनर्थ करने वाली है। तो पुत्र बोला कि जो सम्पदा अनर्थ करने वाली है फिर उसे आप मुझे क्यों दे रहे हे ? आप छोड़कर जायेंगे तो हम भी आप के साथ जायेंगे। मुझे इस राज्य सम्पदा से प्रयोजन नही है। दूसरे तीसरे सभी लड़कों से कहा। उन लड़कों में से किसी ने भी स्वीकार न किया और वे सबके सब वज्रदन्त के ही साथ दिगम्बरी दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हुए। वज्रदन्त ने बहुत समझाया देखो तुम्हारी छोटी उमर है, अभी तुमने भोगों को नही भोगा है, कुछ दिन को रह जाओ जंगल में बहुत कठिन दुःख होगे, ठंडी, गर्मी, क्षुधा, तृषा आदि की अनेक वेदनाएं तुम कैसे सहोगे, तो पुत्र बोलते हैं कि पिता जी तुम तो साधारण राजा के लड़के हो और हम चक्रवती के पुत्र है, आपसे भी अधिक साहस हम रख सकते हैं। चक्रवर्ती जो होता है वह चक्रवर्ती का लड़का नही होता। सामान्य राजा का पुत्र हुआ करता है फिर वह अपने पौरूष से चक्रवर्ती होता है। तो चक्रवर्ती का लड़का लड़के यो कहते हैं और अपने पिता जी के साथ जंगल को चल देते हैं। उस समय बालक पौत्र को तिलक करके चल दिये थे।

परिग्रहण की कलुषता—भैया ! खूब भोग-भागकर बाद में उनके विभाग बनाकर त्यागे, वह भी ठीक है। अनेक लोग तो ऐसे होते हैं कि मरते-मरते भी नही त्याग सकते हैं। जुलाहा कपड़े बुनता है तो वह भी पूरा नही बुन सकता है, अंत में दो चार अंगुल छारी उसे छोड़ना पड़ता है किन्तु यह मोही मनुष्य अपने जीवन के पूरे क्षण पूरता ही रहता है। मरते जा रहा है और कहता जाता है कि मेरे लल्ला को दिखा दो। और कदाचित् मर न रहा हो, कुछ रोग ऐसा आ गया हो कि दम न निकल रही हो, भीतर ही भीतर भिंचा जा रहा है, बोल नही सकता । ऐसी स्थिति में कदाचित् बाहर से बेटा बेटी आ जाये और उसी समय संयोगवश उसका दम निकल लाय क्योंकि बहुत दिनों से ऐसा दम घुटी हुई तो हो ही रही थी उसी समय बेटा बेटी आ जाये तो लोग कहते हैं कि इसका बेटा बेटी में दिल था इसीलिए अभी तक नही मर रहा था। अगर ऐसी बात हो तो बेटा बेटी को

कभी न आना चाहिए ताकि उसकी जान न निकले, कभी न मरे। ठंडी आत्मा हो गयी तब यह मरा ऐसा अनेक लोग कहते हैं। चलो, वे भी अच्छे है जो भोगो को भोगकर, भोगो की असारता समझकर एक ज्ञाननिधि आत्मतत्त्व की और लौ लगाते हैं।

वैराग्य का तात्कालिक प्रभाव—भोग चुकने के बाद छोड़ने वालो से भी बढ़कर वे त्यागी है जो पाये हुए समागम में भी राग नही रखते हैं और त्याग देते हैं। वे बाल ब्रह्मचारी तो विशेष के पात्र है जो भोगों में फंसते ही नही है। पहिले से ही त्याग देते हैं। वे जानते हैं कि ये भोग साधन आरम्भ में दुःख दे, प्राप्त होने पर दुःख दे और अंत समय में दुःख दे।

ज्ञानदृष्टि बिना कल्याण अंसभावना—कोई भी जीव अपनी ज्ञानदृष्टि किए बिना शान्त सुखी नही हो सकता। ईट पत्थर सोना चांदी इनमें कहाँ आनन्द भरा हुआ है जो वहाँ से आनन्द झरा करे। धन्य है वे पुरुष जिनका चित्त निर्मल है, जिन्होंने अपने सहज ज्ञानस्वरूप का परिचय पाया है और ज्ञानानुभव का आनन्द ले करके बैठे है। गृहस्थ जनों में भी अनेक महापुरुष ऐसे हुआ करते हैं जिन्हें कर्मोदय से बरजोरी भोग भोगना पड़ रहा है। परन्तु अंतरंग मे अत्यन्त उदासीन रहते हैं ऐसे भी महापुरुष होते हैं। वे अपने गृहस्थ में भी आन्तरिक योग्य तपस्या बनाये हुए है। जीव, कर्म और कर्म फल—इन तीन तत्त्वों का जिनको यथार्थ विश्वास नही है वे भोगों का परित्याग कर ही नही सकते हैं। वे पूजा करें तो धन भोग बढ़ाने के खातिर करेंगे, वे धर्म साधन करे तो इसी लक्ष्य से करेंगे कि मेरे सम्पदा बढे, परिजन सुखी रहे, मौज बनी रहे, मौज बनी रहे, किन्तु यह समस्त मौज भी विपदा है।

समागम की विपदा—भैया ! यह सम्पदा का समागम भी क्लेश हे। यह जीव तो सबसे न्यारा स्वतंत्र एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, यह जब जन्मा तब क्या लाया और जब मरेगा तब क्या ले जायगा? इस जन्म मरण के बीच के कुछ दिन क्या मूल्य रखते हैं ? जैसे ५०-६० वर्ष की उम्र में किसी दिन कोई स्वप्न आ जाय तो वह जो स्वप्न एक मिनट का है। उस सारी जिन्दगी में एक मिनट का दृश्य क्या मूल्य रखता है काल्पनिक है। उस एक मिनट का तो हिसाब बन सकता है किन्तु अनन्तकाल के सामने यह ५०-६० वर्ष का जीवन कुछ भी हिसाब में नही आता है। यह कर्मों का फल है, यह करतूत है इस करतूत का यह फल होता है। वर्तमान में उसकी यह दशा है, उसका जो अशुद्ध परिणाम है, अन्याय का भाव है यही मुझ पर विपदा है।

प्रत्येक परिस्थिति स्वयं की करनी का परिणाम—सब न्याय इस अंतरंग प्रभु के द्वारा हो रहा है। खोटा परिणाम किया तो तुरन्त संक्लेश हुआ, कर्मबंध हुआ और उसके फल में नियम से दुर्गति भोगनी पडेगी। शुद्ध परिणाम यदि है तो चाहे कितनी भी विपदा आये, विपदा का सत्कार करे, क्या विपदा है? बाह्य पदार्थों का परिणमन है। मुझमें बिगाड़ तब होगा जब मैं उन परिणमनों के कारण अपने आप ही अपने सिर मोल ले लिया करते हैं।

विपदा किस वस्तु का नाम है? किसी भी वस्तु का नाम विपदा नही है, कल्पना बनायी, लो विपदा बन गयी। आज ५० हजार का कोई धनी है और कदाचित् ५००रु. की ही पूंजी होती तो क्या ऐसा हो नही सकता था। अनेक पुरुष ऐसे गरीब पडे हुए है, क्या ऐसी स्थिति हो नही सकती थी।

समागम का उपकार में उपयोग करने का अनुरोध—भैया ! ऐसा निर्णय करे कि जो मिला है वह मेरे मौज के लिए नही मिला है। उसका यो सदुपयोग करे कि अपनी भूख प्यास ठंड गर्मी मिटाने के लिए साधारण व्यय करके यह समझे कि जो कुछ आया है यह परोपकार के लिए आया है। दसलक्षणी में बोलते हैं ना—खाया खोया बह गया, कल्पना के विषयो में जितना धन लगाया है वह खाया खोया बह गया की तरह है और जिन उपायों से लोक में ज्ञान बढ़े, धर्म बढ़े, शान्ति मिले, मोक्षमार्ग का प्रकाश मिले उन उपायों में धन का व्यय किया तो उसको कहा करते हैं, निज हाथ दीजे साथ लीजे। ये भोग शुरू में भी, मध्य में भी और अन्त में भी केवल क्लेश को ही उत्पन्न करने वाले हे। यह जानकर ज्ञानी पुरुष भोगों को हेय समझकर भोगते हुए भी नही भोगते हुए के समान रहते हैं।

विषयविष में अनास्था—जब चारित्र मोहनीय कर्म का उदय निर्बल हो जाता है जिनके अर्थात् कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है तो वे भोगों का सर्वथा परित्याग कर सकते हैं। जो पहिले से यह भावना भाये कि ये भोग पराधीन है, दुःखकारी भरे हुए है, पाप के कारण है ऐसे भोगों का क्या आदर करना ? भोगते हुए भी भोगो का अनादर रहे तो वह भोगों से मुक्त हो सकता है, परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा नही कर सकते हैं, उनके तो व्यामोह लगा है। उन्होने तो अपने आनन्दस्वरूप का परिचय ही नही पाया है। ये विषय सुख वास्तव में विष ही है, यह अनुभव अज्ञानियों को नही होता है। विषयभोग सम्बन्धी यह विष अत्यन्त भंयकर है। जो प्राणी विषयविष का पान करते हैं वे इस विष के द्वारा भव-भव में विषय सुख की कल्पना में रहते हुए विषयों से उत्पन्न हुए दुःख को सहते रहते हैं। दुःख सहते रहते हैं अज्ञानी, फिर भी कुछ चेत नही लाते हैं।

अन्तर्बाह्य सात्त्विक रहन—भैया ! मोह को महत्व न दे, अपने आपका यह निर्णय रखे कि धन वैभव प्रशस्त नही होता क्योंकि धन होगा तो बिरले ही पुरुष के भले ही वहाँ भोग उपभोग की आसक्ति न हो सके पर प्रायः करके अज्ञानियों से ही भरा हुआ यह जगत है। इस कारण वे भोग और उपभोगों में आसक्त हो जाते हैं। भोग उपभोग की लीनता अशुभ कार्य का कारण है और भोग उपभोग को उत्पन्न करने वाला धन है, तो इस धन को कैसे प्रशस्त कहा जा सकता है? हाँ कोई बिरले गृहस्थ जो बडे विवेकी है अपने आडम्बर को, रहन सहन को सात्विक वृत्ति से करते हैं, जिनका लक्ष्य यह है कि मेरे प्रयोजन में इतना व्यय होगा, शेष सब परोपकार के लिए है।

महापुरूषों के जीवन का लक्ष्य—भैया ! हुए भी है कुछ ऐसे राजा जो स्वयं खेती करके जो पायें उसमें अपना और रानी का गुजारा करते थे, और राज्य से जो कर मिला, सम्पदा आयी उसका उपयोग केवल प्रजा जनों के लिए किया करते थे। उनका यह विश्वास था कि जो कुछ प्रजा से आया है वह मेरे भोगने के लिए नही है वह प्रजा के लिए है। कुछ बिरले संत ऐसे, पर प्रायः करके मोही प्राणी है जगत के सो वे धनका दुरूपयोग ही करते हैं। अपने विषय साधनों में, मौज में, संग्रह में धनसंचय के कारण मैं बड़ा कहलाऊँगा, लोगों में मेरी इज्जत रहेगी। इन सब कल्पनावों के आधीन होकर आसक्त रहा करते हैं। ऐसे इन विपत्ति जनक भोगों से कौन पुरुष सन्तोष प्राप्त कर सकेगा ? ज्ञानी पुरुष इन भोगों की चाह में नही फंसता है।

श्लोक 18

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।

स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा।।१८।।

शरीर का रूपक—जिस शरीर के सम्बंध को पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं ऐसा शरीर है और यह निरन्तर विनाश की और जाने वाला है। उस शरीर के लिये आशा, प्रार्थना करना व्यर्थ की बात है। इसका नाम काय है। जो संचित किया जाय उसका नाम काय है। यह शरीर अनेक स्कंधों के मिलने से ऐसी शक्ल का बन जाता है। इसका नाम शरीर है, जो जीर्ण हो, शीर्ण हो, गले उसका नाम शरीर है। यदि व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो जवानी तक तो इसका नाम काय कहो और बुढ़ापे में इसका नाम शरीर कह लो। काय उसे कहते हैं जो बढ़े, शरीर उसे कहते हैं जो गले। यह काय पुद्गल का पिंड है। यह शरीर जिन परमाणुवों से बना है वे परमाणु भी स्वयं अपवित्र नही है। फिर उन स्कंध पर जब इस जीव ने अपना कब्जा किया तब ये परमाणु स्कन्ध शरीर भी अपवित्र हो गए। जब तक जीव जन्म नही लेता, गर्भ में नही आता है तब तक ये शरीर के स्कंध यत्र तत्र बिखरे पड़े पवित्र है। जहाँ इस जीव ने उन शरीर स्कंधों पर अपना कब्जा किया कि ये अपवित्र बन जाते हैं।

शरीर की अशुचिता के परिज्ञान का लाभ—लोग कहते हैं कि शरीर अपवित्र है, ठीक है, कहना चाहिए क्योंकि शरीर के मोह में आकर यह जीव अन्याय कर डालता है, खोटी वासनाएँ करता है। जिन वासनाओं में कुछ तत्त्व नही है, केवल मन की कल्पना की बात है, आत्मा की बरबादी है सो ऐसी खोटी कल्पनाएँ जिसमें शरीर का आकर्षण है, आत्मा को संकटी करने के लिए हुआ करती है, इस कारण शरीर को अपवित्र बताना बहुत आवश्यकता बात है। कहना ही चाहिए शरीर को अशुचि, किन्तु कुछ ओर प्रखर दृष्टि से निरखो तो यह शरीर स्वयं कहाँ गंदा है। यह एक पुद्गल का पिण्ड है। जो है। सो है। इस हालत मे भी जो है सो है, और जब इस शरीर को जीव ने ग्रहण न किया था उस समय तो ये स्कंध बहुत पवित्र थे । हाड़ मांस रूधिररूप भी न थे

लेकिन यह शरीर गंदा किस कारण बन गया है ? यह केवल रागी मोही जीव के सम्बंध का काम है। इस कारण शरीर गंदा नहीं है, यह रागी द्वेषी मोही जीव गंदा है। शरीर तो एक पुद्गल है। जैसे ये चौकी काठ वगैरह है ये भी पुद्गल यह शरीर भी पुद्गल का है, पर यह और ढंग का पुद्गल है। इस शरीर में गंदगी क्या है? जो है हमको उसके ज्ञाता है रहना है, जान लेना है।

निर्विचिकित्सा—भैया ! निर्विचिकित्सा अंग जहाँ बताया जाता है सम्यग्दर्शन के प्रकरण में वहाँ तीन बातें कही जाती है। एक तो अशुचि पदार्थ को देखकर घृणा का भाव न लाना। ज्यादा थूकाथाकी वाली चीज को निरखकर मुंह में पानी बह आना। जैसे थूकना पड़ता है तो यह भी थूकाथाकी घृणा का रूपक है । साधु संतजन ऐसी थूकाथाकी नही किया करते हैं। अन्य अपवित्र पदार्थों को निरखकर वे घृणा ग्लानि नही करते। व्यवहार जरूर उनसे बचने का रहता है, क्योंकि स्वाध्याय करना, सामायिक करना ये सब कार्य अपवित्र हालत में नही होते हैं। लेकिन कोई घृणित वस्तु सामने आये तो उसको देखकर ज्ञानी पुरुष नाक भौंह नही सिकोड़ते हैं, योग्य उपेक्षा करते हैं। दूसरी बात यह है कि किसी धर्मात्मा पुरुष की सेवा करते हुए में तो ग्लानि रंच भी नही रहती है। यहाँ उससे भी अधिक निर्जुगुप्सा भाव रहता है। साधु धर्मात्मा जन रोगी हो, मल मूत्र कर दे तो भी घृणा नही करते। जैसे माता अपने बच्चे की नाक अपनी साड़ी से ही छिनक लेती है और घृणा नही करती है। दूसरे लोग उस बच्चे से घृणा करते हैं, अरे इसके तो नाक निकली आ रही है। इसे सम्हाल लो, पर मां उसे बड़े प्रेम से पोंछ लेती है। माँ ही बच्चें से घृणा करने लगे तो बच्चा कहाँ जाए ? यो ही धर्मात्मा जन धर्मात्माओं के प्रति माता की तरह व्यवहार रखते हैं। अगर धर्मात्मा पुरुष ही धर्मात्मा से घृणा करने लगें तो वे कहाँ जाए ? उनके कहाँ निर्जुगुप्सा रहेगी, और तीसरी बात यह है कि आत्मा में जो क्षुधा, तृषा, वेदना आदि के कोई प्रसंग आये तो भी वे ग्लान नही होते हैं, दुःखी नही होते हैं, किन्तु वहाँ भी अपने आप में प्रकाशमान शुद्ध परमात्मतत्त्व के दर्शन से तृप्त रहा करते हैं।

वास्तव में घृणा के योग्य—इस प्रकरण से यह बात जानना चाहिए कि घृणा के योग्य यह शरीर नही है किन्तु जिस गंदे जीव के बसने से ये पवित्र स्कंध भी हड्डी, खून आदि रूप में बन गए है वह जीव गंदा है। न आता कोई जीव तो शरीर कैसे बन जाता? शरीर की गंदगी का कारण वह अशुद्ध जीव है। अब जरा जीव में भी निरखो तो वह जीव अशुद्ध नही है किन्तु जीव की जो निजी विभावमय बात है, अशुद्ध प्रकृति है, विभाव परिणति है वह गन्दी है। जीव तो जैसा सिद्ध प्रभु है वैसा है, कोई अन्तर नही है, अन्तर मात्र परिणति का है। तो जीव में भी जो रागद्वेष मोह की परिणति है वह घृणा के योग्य है, यह शरीर यह पुरुष घृणा के योग्य नही है, मूल बात यह है। लेकिन इस प्रकरण में परमतत्त्व ज्ञानियो की दृष्टि में आने वाली बात के लिए व्यवहारिक बात कही जा रही है।

अशुचि एवं अशुचिकर शरीर—यह शरीर अपवित्र है। इसमें चंदन लगा दो तो वह चंदन भी अपवित्र हो जाता है। दूसरा पुरुष किसी दूसरे के मस्तक पर लगे हुए चंदन को पोंछकर लगाना नही चाहता है। तेल लगा लो शरीर में, ज्यादा हो गया और किसी से कहो कि इस हमारे तैल को पोंछकर आप लगा लो तो कोई लगाना पसंद नही करता है। तैल में कोई गंदगी नही है, पर शरीर की गंदगी पाकर तैल अपवित्र हो गया। और तो जाने दो। कोई फूल की माला पहिन ले, फिर किसी से कहे कि लो इसे आप पहिन लो तो कोई उस फूल की माला को पहिनना पसंद नही करता है। जिस शरीर के सम्बंधको पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाता है, उस शरीर से क्या प्रार्थना करना, उस शरीर की क्या आशा रखना?

रूप की बुनियाद—एक कथानक में आया है कि एक राजपुत्र शहर में जा रहा था तो किसी महल के छज्जे पर खड़ी हुई सेठ की बहू उसकी दृष्टि में आयी तो राजपुत्र उस सेठ की बहू पर आसक्त हो गया। काम की वासना, संस्कार इतनी गंदी चीज है कि जो कामी पुरुष होते हैं उन्हें भोजन भी न सुहाये। उसने कुट्टनी को कहा कुट्टनी सेठ की बहू के पास पहुंच गयी, हाल बताया। वह सेठ की बहू बड़ी चतुर थी। उसने कहा ठीक है। १५ दिन के बाद अमुक दिन राजपुत्र आये। उस सेठ की बहू ने इस १५ दिन में क्या किया कि जुलाब की दवाई खाकर दस्त जो कुछ भी लगे वह सब एक मटके में कर दिये। १५ दिन में वह मटका दस्त से भर गया। वह बहू उन १५ दिनों में बड़ी दुर्बल हो गयी। कुछ रूप कांति न रही। राजपुत्र आया, देखकर बड़ा दंग हुआ। तो बहू कहती है कि तुम जिस पर आसक्त थे उसे चलो हम तुम्हें दिखाए फिर तुम उससे प्रेम करो। उस राजपुत्र ने उसे जाकर देखा तो सारी दुर्गन्ध छा गयी, झट वह बगल हो गया और उल्टे पैर भागा। तो जिस चीज पर यह रूप चमक दमक रहती है वह अन्य है क्या ? मल, मूत्र, खून इनका पिंड ही तो है। इनका ही एक संग्रहीत रूप-रूप कहलाता है।

अशुचि अजंगम शरीर—इस शरीर को पाकर पवित्र से भी पवित्र वस्तु अपवित्र हो जाती है। किसी की पहिनी हुई कमीज भी कोई भी दूसरा नही पहिनना चाहता। अब बतलावो देह से सम्बद्ध उपभोग वाली वस्तु भी दूसरे ग्रहण नही कर सकते हैं, ऐसा यह अपवित्र शरीर है। यह शरीर अजंगम है, स्वयं नही चलता। न जीव हो शरीर में तो क्या शरीर चल देगा? जीव की प्रेरणा नही होती शरीर में तो देह तो न चल सकेगा। जैसे अजंगम यंत्र मोटर साइकिल ये किसी जंगम ड्राइवर के द्वारा चलाये जाते हैं, स्वयं तो नही चलते, ऐसे ही यह थूलमथूल शरीर भी स्वयं नही चल सकता है। मुर्दा तो कही चल नही पाता। जो मुर्दे में है ऐसा ही इसमें है, फर्क यह है कि तैजस और कार्माण सहित जीव इसमें बसा हुआ है इससे इसमें चमकदमक तेज है और चलने फिरने की क्रिया होती है। यह शरीर अजंगम है। किसी जंगम शरीरके द्वारा चलाया जा रहा है

भयानक और संतापक शरीर—यह शरीर भयानक है। यही शरीर रागी पुरुष को प्रिय लगता है और विरागी पुरुष को यही शरीर यथार्थ स्वरूप में दिखता है और वृद्धावस्था हा जाय तब तो शरीर की स्थिति स्पष्ट भयानक

हो जाती है। कोई अंधेरे उजेले में बच्चा निरख ले बूढ़े के शरीर को तो वह डर जाय ऐसा भयानक हो जाता है। यो यह अपवित्र शरीर भयानक भी है। कोई कहे कि रहने दो भयानक, रहने दो अपवित्र, फिर भी हमें इस शरीर से प्रीति है। तो भाई यह शरीर प्रीति करने लायक रंच नही है क्योंकि यह शरीर संताप को ही उत्पन्न करता है। इसमें स्नेह करना व्यर्थ है।

मोहियों द्वारा अलौकिक वैभव की उपेक्षा—भैया ! सबसे अलौकिक वैभव है शरीर पर भी दृष्टि न रखकर, किसी भी परपदार्थ का विकल्प न करके केवल ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्व को निरखे तो वहाँ जो आनन्द प्रकट होता है वही अद्भुत आनन्द है, उसमें ही कर्मों को जलाकर भस्म कर देने की सामर्थ्य है। वह आनन्द जिनकी दृष्टि में आया है उनका मनुष्य होना सार्थक है और जीवों को अपने आत्मा का शुद्ध आनन्द अनुभव में नहीं आया है वे विषयों के प्रार्थी बनते हैं, देह की प्रार्थना करते हैं, शरीर की आशा रखते हैं और कामादिक विकारों में उलझ कर अपना जीवन गंवा देते हैं। इस जीव की प्रकृति तो आनन्द पाने के लिए उत्सुक रहती है। यह आनन्द पाये, इसे शुद्ध आनन्द मिले तो कल्पित सुख या दुःख की और कौन झुकेगा? पर जब शुद्ध आनन्द ही नही मिलता, सो कल्पित सुख की ओर लगना पड़ता है।

शरीर की अशुचिता का संक्षिप्त विवरण—छहढाला में कहा है—'पल रुधिर राधमल थैली, कीकश वसादितै मैली। नवद्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी।' मांस, रूधिर, खून, मल इत्यादि से भरा हुआ यह शरीर एक थैली है जिसमें ९ घिनावने द्वार बहते रहते है—कान से कर्ण मैल, आंखों से कीचड़, नाक से नाक, मुख से लार, और मलमूत्र के स्थानों से मलमूत्र, ये जहाँ बहते रहते हैं ऐसा यह घिनावना शरीर है। अरे, इसमें प्राकृतिक बात देखो कि ऊपर से नीचे के द्वार से बहने वाली वस्तु अधिक घिनावनी है। कान से जो कनेऊ निकलता है उस पर लोग घृणा का अधिक ख्याल नही करते। इस कनेऊ को कीचड़ से ज्यादा गंदा नही समझा जाता है। लोग अंगुली से कर्ण मल निकालकर फेंक देते हैं, हाथ को कपड़े से नही पोंछते। अगर आंख से कीचड़ निकालते हैं तो फिर अपने हाथ को कपड़े से पोंछते हैं, और नाक से नाक निकाला तो हाथ कपड़े से पोंछ लेते हैं और पानी से भी धो लेते हैं। आंख के मल से नाक का मल अधिक गंदा है। नाक से ज्यादा थूक और लार आदि गंदे है। थूक और खखार से ज्यादा मूल मल गंदे है। ऊपर की इन्द्रियों से नीचे की इन्द्रियाँ अधिक गंदी मानी जाती है।

शरीर की अशुचिता वैराग्य की प्रयोजिका—भैया ! क्या भरा है इस देह में, कुछ निगाह तो कीजिए। इसकी निगाह करने से मनुष्यो की खोटी वासना नही रह सकती है, पर मोही जीव कहाँ निरखता है इस शरीर की गंदगी को? विधि ने मानो इस शरीर को गंदा इसलिए बनाया है कि ये मनुष्य गंदे शरीर को पाकर विरक्त रहा करे, परंतु यह मोह ऐसा प्रबल बना हुआ है कि विरक्ति की बात तो दूर रही, यह नाना कलाओं से इस शरीर

से अनुराग करता है। यह शरीर अपवित्र और भयानक तो है ही साथ ही यह निरन्तर विनाश की और जा रहा है।

जीवन का निर्गमन—बचपन बड़ी अच्छी उम्र हे, पर वहाँ अज्ञान छाया है। बचपन कितना निश्चित जीवन है, कितना अधिक बुद्धि का यहाँ बल है, जिस ग्रन्थ को पढ़ वह तुरन्त याद हो जाए, कितना सरल व निष्कपट भाव है, निश्चिन्तता है पर वहाँ अज्ञान बसा है सो अपना कल्याण नही कर पाते। जवान हुआ तो अब भी इसमें प्रभाव अधिक है, लेकिन कामरत होकर यह जवानी को भी व्यर्थ गवां देता है। अब वृद्धावस्था आयी तो जिसने बचपन में भी कल्याण का काम नही किया, जवानी में भी कल्याण का काम नही किया तो बुढ़ापा में अब क्या करेगा? उसकी स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। यह शरीर निरन्तर विनाश की और है जितनी घड़ियां निकलती जा रही है उतना ही आयु का विनाश हो रहा है। लोग कहते हैं कि मेरा लल्ला ८ वर्ष का हो गया, यह बढ़ गया। अरे उसका अर्थ है कि ८ वर्ष उसके मर चुके। ८ वर्ष उसकी उम्र कम हो गयी है। जिसको मानो ७० वर्ष जीना है उसकी अवस्था अब ६२ वर्ष की रह गयी है, लोगों की इस और दृष्टि नही है, उसके विनाश के दिन अब निकट आ गए है। विनाश के दिन निकट आने का नाम है बुजुर्ग हो जाना। यह शरीर निरन्तर विनाश की और है, ऐसे शरीर से स्नेह करना व्यर्थ है।

ज्ञानी का चिन्तन—एक दोहा में कहा है—विषै चाम चादर मढ़ी हाड़ पींजरा देह। भीतर या सम जगत में और नही छिन गेह।। यह हाड़ मांस का पिंड है। कोई पुरुष अत्यन्त दुर्बल हो तो यह पींजड़ा बिल्कुल स्पष्ट समझ में आता है। कोई वैद्य लोग अत्यन्त दुर्बल शरीर का चित्र छपवाते हैं, उसमें देखो तो शरीर का पिंजरा स्पष्ट दीखता है। ऐसा ही पींजड़ा संग्रहालय में देखने को मिलेगा या मरघट में वहाँ ऐसा ही पींजड़ा देखने को मिल जायगा, वही पींजड़ा हम आपके शरीर में है। फर्क इतना है कि हम आपके शरीर पर चाम चादर मढ़ी हुई है, किन्तु भीतर तो इसमें सभी अपवित्र चीजें है। यह शरीर इतना अपवित्र है कि कितना पवित्र पदार्थ हो इसका स्पर्श करने से वह भी अपवित्र हो जाता है, फिर भी इन मोही जीवों ने यह शरीर बड़ा प्रिय माना है, इस शरीर की प्रतिष्ठा से ही निरन्तर संतुष्ट रहते हैं। किन्तु ज्ञानी जीव शरीर के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं, उन्हें इस शरीर से अन्तरंग में राग नही होता है। अनादि काल से भटकते हुए आज हमें यह दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है, ये जिनेन्द्र वचन मिले हैं तो हम इनका लाभ उठायें, मायामय चीजों में आसक्त होकर आत्मकल्याण करे। इसके लिए ही ज्ञानी अपना जीवन समझता है।

श्लोक 19

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।

यद्देहस्योपकाराय नज्जीवस्यापकारकम्।।१९।।

जीव के उपकार में देह की अपकारिता व देह के उपकार में जीव की अपकारिता—जो तत्त्व जीव के उपकार के लिए होता है वह तत्त्व देह का अपकार करने वाला होता है, और जो पदार्थ देह के उपकार के लिए होता है वह पदार्थ जीव का अपकार करने वाला होता है। अनशन आदि तप, व्रत, समिति, संयम इन चारित्रों का धारण करना जीव के उपकार के लिए है। यह चारित्र पूर्वकाल में बांधे हुए कर्मो का क्षय करने वाला है और भविष्यकाल में पाप न हो सके, यो कर्मों का आस्रव रोकने वाला है। इस कारण ये तपस्याएँ, चारित्र जीव के उपकार के लिए है, तो ये तपस्याएँ शरीर का अपकार करने वाली है, शरीर सूख जाता है, काला पड़ जाता है आदि रूप से शरीर का अपकार होने लगता है, और जो धन वैभव सम्पदा देह के उपकार के लिए है जिसके प्रसाद से खूब खाये, पिये, भोग साधन जुटायें, आराम से रहें जिससे देह कोमल, बलिष्ठ, मोटा, स्थूल हो जाय, सो ये वैभव धन आदि परिग्रह जीव के अपकार के लिए है।

पर के आश्रय में आत्मा का अपकार—इससे पूर्व श्लोक में यह प्रसंग चल रहा था कि धन आदि से शरीर का उपकार नही होता है, सो शंकाकार कहता है कि मत होवो शरीर का उपकार, किन्तु धन से व्रत, दान आदि कर लेने के कारण आत्मा का उपकार तो होता है? तो आत्मा का हित भी होगा, उसके उत्तर में कहा जा रहा है कि धन आदि परपदार्थों से कभी आत्मा का हित नही होता है। इस जीव का सबसे बड़ा बैरी मोह है, मोह का आश्रय धन वैभव है। इस मोह में आकर यह देव, शास्त्र, गुरु का विनय भी, इनकी आस्था भी योग्य रीति से करता ही नही है। जब परपदार्थों से अपने हित की श्रद्धा है तो मोक्षमार्ग के प्रयोजन भूत अथवा धर्मात्मा साधु संत जनों के प्रति आस्था कैसे हो सकती है? सबसे प्रबल बैरी मोह है। अन्य पदार्थ इस जीव के विराधक नही है। जैसे आस्तीन में घुसा हुआ सांप विनाश का कारण है इसी प्रकार आत्म क्षेत्र में बना हुआ यह मोह परिणाम इस आत्मा के ही विनाश का कारण है। जीव की बुद्धि विपरीत हो जाती है मोहभाव के कारण।

बुद्धि की मलीनता ही वास्तविक विपत्ति—इस मोह की ही प्रेरणा से विषयो में जीव प्रवृत्त होता है। ये समस्त विषय जीव का विनाश करने के कारण है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति का निधान यह ब्रह्म परमात्मतत्त्व प्रकट नही हो पा रहा है और संसार भ्रमण में लगा हुआ है, इससे बढ़कर बरबादी और किसे कह सकते है? इस जीव को इस भव में जो कुछ मिला है यह बरबाद हो जाय तब भी जीव की बरबादी नही है, और यह जीव अपने स्वरूप का ज्ञान न कर सके, अपनी बुद्धि को पवित्र न रख सके और कितना ही करोड़ों का वैभव मिल जाये तो भी वहाँ जीव की बरबादी है। कितने ही विषय तो देह का भी अपकार करते हैं और जीव का भी अपकार करते हैं। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय का विषय काम मैथुन, व्यभिचार, कुशील ये देह को भी बरबाद करते हैं और जीव को भी बरबाद करते हैं, बुद्धि भी हर लेते हैं। पापों का उसके प्रबल उदय शीघ्र ही आने वाला है जो अपने आचार से गिरा हुआ है, उस मोही की दृष्टि में कहा जा रहा है कि ऐसे काम

आचरण को भी यह मोही जीव देह के उपकार के लिए मानता है, पर वही प्रवर्तन इस जीव का विनाश करने का कारण है

संग समान से जीव का अपकार—परिजन मे रहना मित्र मंडली मे रहना इनको यह मोही जीव उपकार करने वाला है पर वस्तुत ये सर्व समागम जीव के अपकार के लिए है, बरबादी के लिए है। इस जीव का केवल अपना स्वरूप ही इसका है। चैतन्य स्वभाव के अतिरिक्त अणु मात्र भी अन्य पदार्थ इस आत्मा का कुछ नही लगता। इस आत्मा के लिए जैसे विदेश के लोग भिन्न है अथवा पड़ौस के लोग भिन्न है। उतने ही भिन्न, पूरे ही भिन्न घर में पैदा हुए मनुष्य भी है, अथवा जिनमें यश इज्जत चाहा है वे पुरुष भी उतने ही भिन्न है, फिर भी उनमें से यह छंटनी कर लेगा कि यह मेरा साधक है, यह मेरा बाधक है, यह उन्मत दशा है। ये मनचाही बातें, मन को प्रसन्न करने वाली घटनाएँ ये देह का भले ही उपकार करे, देह स्वस्थ रह, प्रसन्न रहे मौज में रहे, परन्तु इन सब बातो से जीव का अपकार है, विनाश है।

तपश्चरण से जीव का उपकार एवं देह का अपकार—अपने मन को नियंत्रित रखना, अपने आप में समता परिणाम से रह सकना, ऐसा उपयोग का केन्द्रीकरण करना, तपश्चरण करना, अनशन, ऊनोदर व्रतपरिसंख्यान, विविक्त शय्यासन और नाना कार्य क्लेश—ये सब तपश्चरण पापकर्म के विनाश के कारण भूत है। इन प्रवृत्तियों से आत्मा मे निर्भयता आती है। ये सब चारित्र जीव के भले के लिए है, परन्तु इन तपस्याओं से देह का अपकार होता है। भूख से कम खाये, पूरा रस न खाये, बहुत से अनशन करे तो शरीर का बल भी घटने लगता, इन्द्रियाँ भी दुर्बल हो जाये, आँखों से कम दिखने लगे, अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। देह का विनाश हो जाता है और अनन्त काल के लिये भी देह का अभाव हो सकता है। दो बातें सामने है। एक ऐसी चीज है जो देह की बरबादी करे और आत्मा का भला करे और एक ऐसी दशा है जो देह को अत्यन्त पुष्ट करे और आत्मा की बरबादी करे। कौन सा तत्त्व उपादेय है? विवेकी तो उस तत्त्व को उपादेय मानता है जो जीव का उपकार कर सकने वाला है।

ज्ञानी का विवेकपूर्ण चिन्तन—भैया ! यह देह न रहेगा। अच्छा सुभग सुडौल सबल पुष्ट हो तो भी न रहेगा, दुर्बल, अपुष्ट हो तो भी न रहेगा, परन्तु जीव का भाव, जीव का संस्कार इस शरीर के छोड़ने पर भी रहेगा। तो जैसे कुटुम्ब के लोग मेहमान में वैसी प्रीति नही करते हैं जैसी कि अपने पुत्र में करते हैं। क्योंकि जानते हैं कि यह मेहमान हमारे घर का नही है, आया है जायगा और ये पुत्रादिक मेरे उत्तराधिकारी है, मेरे है, यो समझते हैं इसीलिए मानो मेहमान नाम रखा है महिमा न। जिसके प्रति घर वालों की बड़प्पन की बुद्धि नही है, प्रियता की बुद्धि नही है वे सब महिमान कहलाते हैं। तो जैसे कुछ समय टिकने वाले के प्रति, अपने घर में न रह सकें ऐसे लोगों के प्रति ये स्नेह नही बढ़ाते अपना वैभव नही सौंप देते, ऐसे ही यह विवेकी कुछ दिन

रहने वाले इस शरीर के लिए अपना दुर्भाव नही बनता है, खोटा परिणाम नही करता है, उसकी ही सेवा किया करें ऐसा संकल्प नही होता, अपने उद्धार की चिन्ता होती है उसको जो ऐसा ज्ञानी हो, विवेकी हो।

आत्मनिधि की रक्षा का विवेक—जैसे घर की कुटी में आग लग जाय तो जब तक कोई धन बचाया जा सकता है तब तक यह प्रयत्न करता है कि धन वैभव की रक्षा कर ले। जब आग तेज लग गयी, ज्वाला निकलने लगी तो फिर वहाँ अपने प्राणों का भी खतरा रहता है, उस समय धन सम्पदा को छोड़ दिया जाता है और अपने प्राणों को बचा लिया जाता है। ऐसे ही यह शरीर जब क्षीण हो रहा है, दुर्बल हो रहा है, रोगी हो रहा है तो कोशिश करें कि यह ठीक हो जाय जिससे हम अपने धर्म पालन में समर्थ हो सके, पर जब ज्वाला इतनी बढ़ जाय, शरीर की जीर्णता इतनी अधिक हो जाय, रोग बढ़ जाय कि शरीर अब टिकने का नही है तो क्या विवेकी उस शरीर के लिए रोये? हाय अब मैं न रहूंगा, अब मैं मरने वाला हूं। अरे यह शरीर तो इसीलिए उत्पन्न हुआ है। यह शरीर सदा नही रह सकता।

मोहियों की घुटना टेक हैरानी—दो बातों पर इस मनुष्य का वश नही चल रहा है—एक तो मृत्यु पर दूसरे कोई भी चीज मेरे साथ न जायगी इस बात पर। यदि इसकी दोनों बातो पर वश चलता होता तो यह स्वच्छन्द होकर न जाने कितना अनर्थ ढाता? जब देखा कि अब यह शरीर की व्याधि की ज्वाला बढ़ गयी है तो इस शरीर को वह विवेकी छोड़ देता है और अपने ज्ञानस्वरूप को बचाने के लिए शरीर के अनुराग से और प्रवृत्ति से दूर हो जाता है। जो बात जीव का उपकार कर सकती है वह बात देह का विनाश करती है। यह तो लौकिक विनाश की बात है, पर जीव का जिस रत्नत्रय भाव से भला है, वीतराग सर्वज्ञता प्रकट हुई है, परमात्मापद मिलता है, अपने स्वरूप का परिपूर्ण विकास होता है तो उस रत्नत्रय से देखो तो जीव का तो कल्याण हुआ, पर देह का विनाश हुआ कि भविष्य में कभी भी त्रिकाल भी आगे भी अब शरीर न मिल सकेगा। ऐसा शरीर का खातमा हो जाता है।

अन्य पदार्थ से स्व के श्रेय का अभाव—भैया ! तुम जीव हो या शरीर, अपने आप में निर्णय करो? तुम रंग वाले हो या रंग रहित, अपने आपका निश्चय करिये। तुम ज्ञानस्वरूप हो या ऐसा थूलमथूल शरीर रूप। यदि तुम जड़ शरीररूप हो तो तुझे समझाये ही क्या? जब चेतना ही तुममें नही है तो समझाने का सब उद्यम व्यर्थ है फिर बोलना चालना समझना ये सब व्यर्थ के भाव ही तो हुए ना। ....नही-नही, मैं अचेतन नही हूं, मैं अपने आप में रह रहा हूं, जान रहा हूं, समझ रहा हूं, कोई ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको जो निहारता है ऐसा यह जीव यदि तुम हो तो अपने स्वरूप का विकास करो अर्थात् कल्याण करो। जिन बातो से इस आत्मा का उपकार होगा उन बातों पर दृष्टि दो, उन्हें प्रधान महत्व भूत समझो। देखो भोजन आदि पदार्थों से उपभोगों से शरीर पुष्ट होता है ना, बल बढ़ता है, क्रान्ति बढ़ती है। मलाई खावे, रस खावे तो शरीर पुष्ट होगा, ऐसा उपदेश भी देते हैं एक दूसरे को कि इन भोजनादि से शरीर की पुष्टि होती है। होती है पुष्टि पर उन्ही पदार्थों

के विकल्प से आत्मा का विनाश होता है, प्रमाद की वृद्धि होती है, कर्मों का आस्रव होता है, मलिन परिणाम होते हैं और मलिन परिणामों से दुर्गति में जन्म लेना होता है। आत्मस्वरूप से अतिरिक्त अन्य पदार्थों से इसका कुछ भी कल्याण नही है।

देहादिक परिग्रह की अपकारिता—ये धन वैभव आदि आत्मा के उपकारी होते तो महापुरुष इन पदार्थों को त्यागकर अकिञ्चन न बनते, दिगम्बर न बनते, इनका परित्याग न करते। इससे यह समझना चाहिए कि परिग्रह आत्मा का उपकार करने वाला नही है। परिग्रह में रह रहे हे, पर रहते हुए भी बात तो यथार्थ ही जानना चाहिए। अहो ! अनादि काल से इस देह के सम्बन्ध से ही मैं संतप्त रहा । जैसे अग्नि के सम्बन्ध से पानी तप जाता है, खौल जाता है ऐसे ही इस देह के सम्बन्ध से शान्त स्वभावी होकर भी यह आत्मा यह उपयोग संतप्त बना रहा। कहीं भी कभी भी विश्राम न ले सका।

इन्द्रियों की अपकारिता—यह शरीर मेरे संताप के लिए ही है और शरीर के अंग इन्द्रिय, इन्द्रिय की प्रवृत्ति, कर्म इन्द्रिय और ज्ञान इन्द्रिय अर्थात् द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये सब मेरे संताप के ही कारण है। इनकी रति से, प्रेम से मेरा आत्मा दुःखी होता है। यह मोही जानता है कि आंखों से यह पहिले कुछ जाना करता है रसना से, कर्ण से इन सभी इन्द्रियों से यह जाना करता है, सो ये इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन है। हाथ से छूने पर ठंडा गरम का बोध होता है, रसना के द्वारा खट्टा-मीठा आदि का ज्ञान किया जाता है। इन इन्द्रियों से ज्ञान बनता है ऐसी भ्रमबुद्धि है अज्ञानी की। सो चूँकि ज्ञान से बढ़कर तो सभी के लिए कुछ वैभव नही है, अतः यह अज्ञानी भी ज्ञान का साधन इन्द्रियों को जानकर और इन्द्रियों का आश्रय देह को जानकर इस देह को और इन्द्रिय को पुष्ट करता है। उनकी और ही इसका ध्यान है। परन्तु यह विदित नही है कि ये इन्द्रियाँ ज्ञान के कारण नही है, किन्तु वास्तव में हमारे ज्ञान में ये बाधक है।

इन्द्रिय विषयों के मोह मे मूलनिधि के विलय पर एक दृष्टान्त—जैसे किसी बालक का पिता मर जाये तो सरकार उसकी जायदाद को नियंत्रित कर लेती है और उस लाख दो लाख की जायदाद के एवज में उस बालक को दो चार सौ रूपया माहवार सरकार बाँध देती है। पहिले तो वह बालक सरकार के गुण गाता है, वाह बड़ी दयालु है सरकार, हमें घर बैठे इतना रूपया देती है, पर जब उसे अपनी सम्पत्ति का पता लग जाता है तो वह उन दो चार सौ रूपया माहवार लेने से अपनी प्रीति हटा लेता है। वह उन रुपयों को लेने से मना कर देता है। आगे पुरुषार्थ करता है तो उसकी जायदाद मिल जाती है।

इन्द्रियविषयों के मोह में मूलनिधि का विलय—इसी तरह ये इन्द्रियाँ हमारा मूल धन नही है, ज्ञान की कारण भूत नही है, किन्तु जैसे मकान में खिड़कियाँ खुल जाने से बाहर की चीजें दिखती है, वह पुरुष उन खिड़कियों के गुण गाता है, यह खिड़की बड़ा उपकार करती है, मुझे बाहरी चीजों का ज्ञान करा देती है, सड़क पर कौन

आ रहा है, कौन जा रहा है इन सब बातों का ज्ञान यह खिड़की हमें करा देती है। इस तरह के वह खिड़की के गुण गाता है किन्तु जब वह जान जाता है कि अपना ज्ञानबल ही सब कुछ जान रहा है पर यह ज्ञान, इन दीवालों से दबा हुआ है। जानने वाला तो अपने ज्ञान से जान लेता है, इस खिड़की से नही जान लेता है। ऐसे ही यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा इस शरीर की भीत में दबा हुआ हूं। इस भींत में ये चार-पांच खिड़कियां मिल गयी है, आँख, कान, नाक, मुहँ रसना वगैरह, तो हम इस मलिन कायर अवस्था में इन खिड़कियों से थोड़ा बहुत बोध करते हैं, पर यहाँ भी बोध कराने वाली ये इन्द्रियां नही है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं है।

परतत्त्व की प्रीति के परिहार का विवेक—इस ज्ञानानन्दमय आत्मनिधि को परखें और इन्द्रियों की प्रीति तजें, आत्महित की साधना है। इससे देह का अपकार होता है, इस पर ध्यान न दे, किन्तु जिन बातो से इस जीव का अपकार होता है उनको मिटाएँ, यो हम विवेकी कहे जा सकते हैं। पुराण मोक्षार्थी पुरुषों ने भी इस धन वैभव का व अन्त में देह का भी परित्याग करके शान्त और निराकुल अवस्था को प्राप्त किया है, उन्होने निर्वाण का आनंद पाया है उन पुरुषों के उपदेश में यह बात कही गयी है कि इन्द्रिय भोग चाहे देह के उपकारक है, परन्तु आत्मा का तो अपकार ही करने वाले हैं। इसलिए आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थों का मोह त्यागना ही श्रेयस्कर है।

श्लोक 20

इतश्चिन्तामणिर्दिव्यः इतः पिण्याकखण्डकम्।

ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः।।२०।।

आनन्दनिधि व संकट विधि का ध्यान से उपलम्भ—जैसे किसी पुरुष के सामने एक तरफ तो चिन्तामणि रत्न रखा हो और एक तरफ खल का टुकड़ा रखा हो और उससे कहा जाय कि भाई जो तू चाहता हो उसे मांग ले अथवा उठा ले। इतने पर भी वह पुरुष यदि खली का टुकड़ा ही उठाता है, माँगता है तो उसे आप पागल भी कह सकते हैं, मूर्ख भी कह सकते हैं। कुछ भी कह लो। इसी प्रकार हम आप सबके समक्ष एक और तो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन का निधान यह आत्मनिधि पड़ी हुई है और एक और अर्थात् बाहर में यह धन वैभव पड़ा हुआ है, और बात यह है कि मनुष्य ध्यान के द्वारा जो चाहे सो पा सकता है। शुद्ध ज्ञान करे और अपने आपके ध्यान की और आए तो आत्मीय आनन्द पा सकता है, बाहर की और झुके तो उसे वहाँ विषय सम्बंधी सुख दुःख प्राप्त हो सकते हैं। दोनों ही यह ध्यान से पाता है। ध्यान से ही आत्मीय आनन्द पा लेगा और ध्यान से ही वैषयिक सुख और क्लेश पा लेगा।

सुगम लाभ के प्रति अविवेक की पराकाष्ठा—अब वह सत्य आनन्द न चाहे तो उसे क्या कहोगे? मन में कह लो, वस्तुतः न किसी बाह्य पदार्थ से क्लेश मिलता है और न सुख मिलता है। जैसी कल्पना बनायी उस कल्पना

के अनुसार इसमें सुख अथवा दुःख रूप परिणमन होता है। सब ध्यान से ही मिल जाता है। तो एक ओर तो है आत्मीय अनन्त ज्ञान दर्शन की निधि जो आनन्द से भरपूर है और एक और विषयो के सुख ओर क्लेश। दोनों को ही यह जीव ध्यान से प्राप्त कर सकता है। किसी से कहा जाय कि भाई तुम कर लो ध्यान, ध्यान से ही तुम पा लोगे जिसकी अन्तर में रूचि करोगे। न इसमें कुछ रकम लगाना है, न वैभव जोड़ना है, न शरीर का श्रम करना है, न व्याख्यान सीखना है। केवल ध्यान से ही प्राप्त किया जा सकता है। चाहे आत्मीय आनन्द पा लो और चाहे सांसारिक सुख-दुःख विपदा पा लो। इतने पर भी यह जीव उन वैषयिक सुखों का ही ध्यान बनाये तो जितनी बातें लौकिक पागल को कह सकते हो उतनी ही बातें इसको भी कह सकते हो।

यह मोह में पागल हो गया है, अपना ध्यान को ऐसा बौराया है बाहर में कि इस अनन्त निधि का घात कर डाला है। विवेकी जन तो उस चिन्तामणि रत्न का आदर करेंगे, सम्यग्ज्ञानी पुरुष उस आत्मास्वरूप का आदर करेंगे। जैसे किसी बुद्धिमान से कहा जाय कि खल का टुकड़ा और यह चिन्तामणि अथवा अन्य जवाहरात रखे है, इनमें से तुम जो चाहे उठा लो तो वह रत्नों को उठायेगा। इसी प्रकार जो जीव धर्म ध्यान, शुक्लध्यान रूप उत्तम ध्यानों का आराधन करते हैं वे वास्तविक स्वरूप की, सत्य आनन्द की प्राप्ति कर लेते हैं।

अज्ञान का महासंकट—भैया ! इस पर सबसे बड़ा संकट अज्ञान का बसा हुआ है। अज्ञान अंधकार में पड़ा हुआ यह जीव कुछ समझ ही नही पा रहा है कि मेरा क्या कर्तव्य है, कहाँ आनन्द मिलेगा, कैसे सर्व चिन्ताएँ दूर होगी? इसका उसे कुछ भी भान नही है। यहाँ के मिले हुए समागम के थोड़े दिनों को इतरा लें, मौज मान ले, कुछ अज्ञानी मूढ़ों के सिरताज बन ले, इन सबसे कुछ बढ़िया पोजीशन वाले कहलाने लगे, तो भला बतलावो कि चंद दिनों की इस चांदनी से क्या पूरा पडेगा? जो जीव आर्तध्यान, रौद्रध्यान इन अप्रशस्त ध्यानो का आस्रव करता है उसे खल के टुकड़े के समान इस लोक सम्बन्धी कुछ इन्द्रिय जन्म सुख प्राप्त हो जाता है, पर उन सुखों में दुःख ही भरा हुआ है। तेज लाल मिर्च खाने में बतावो कौनसा सुख हो जाता है, पर कल्पना में यह जीव कहता है कि इसमें बड़ा स्वाद आया, यह तो बड़ी चटपटी मंगौड़ी बनी है। कौन सा स्वाद आया सो बतावो, पर लाल मिर्च के खाने के खाने में कल्पना में स्वाद माना जा रहा है। आंसू गिरते जाते और सुख मानते जाते। जैसी यहाँ हालत है वैसी ही हालत इन इन्द्रियविषयों के भोगों में और धनसंचय से मन की मौज में भी यही हालत है। विपदा अनेक आती रहती है और मौज भी उसी में मान रहे हैं।

सद्गृहस्थ की चर्या—भैया ! सद्गृहस्थ वह है जो अपने रात दिन में कुछ समय तो निर्विकल्प बनने का प्रयत्न करे और आत्मा की सुध ले। यह बैठा हुआ, पड़ा हुआ कभी किसी दिन यों ही सीधे चला जायगा, इस शरीर को छोड़कर अवश्य ही जाना होगा। अभी कुछ अवसर है ज्ञानार्जन करने का। धर्म साधन करके पुण्य कमाये, मोक्षमार्ग बनाए, सच्ची श्रद्धा पैदा करे, संसार से छूटने को उपाय बना ले, जो करना चाहे कर सकते

हैं और विवेकी पुरुष ऐसा करते ही है। अविवेकी पुरुष अवसर से लाभ नही उठाते और व्यर्थ के चक्कर में उपयोग रमाकर जीवन गंवा जाते हैं।

ज्ञानी विवेक पर एक दृष्टान्त—जैसे जिस राज्य में यह नियम हो कि यहाँ प्रतिवर्ष राजा का चुनाव होगा और उस राजा के वर्ष की समाप्ति होने पर उसे जंगल में छोड़ दिया जायगा। कौन पेन्शन दे, कौन उसकी सेवा करे? यह नियम हो तो बेवकूफ लोग तो राजा बनेंगे और जंगल में मरेंगे, किन्तु कोई बुद्धिमान तो यह ही करेगा कि हम एक वर्ष को तो है राजा, जिस वर्ष हम राजा है उस वर्ष तो हम जो चाहे सो कर सकते हैं। वह जंगल में ही अपनी कोठी बना दे, खेती बैल सब कुछ तैयार कर दे, नौकर भी भेज दे, एक पार्क बना ले, कर ले जो करना हो, फिर वह फेंक दिया जाय जंगल में तो वहाँ तो वह मौज से रहेगा।

ज्ञानी का विवेक—ऐसा ही इस बार संसार राज्य का ऐसा नियम है। इसे ५०, ६०, ७० वर्ष को मनुष्य बना दो, सब पशुओं का इसे राजा बना दो, सब जीवो में इसे सिरताज बना दो, फिर ६०-७० वर्ष के बाद इसे फैक देना निगोद में, स्थावर में, कीड़े मकोड़ों में, नरकों में ऐसा इस सामान्य का नियम है। तो यहां अविवेकी मूढ़ आत्मा तो इस मनुष्य के साम्राज्य में, विषयों में मग्न होकर चैन माना करते हैं, पर मरने पर दुर्गति पायेंगे, किन्तु कोई हो बुद्धिमान जीव तो वह तो यही समझेगा कि इस ६०-७० वर्ष मे जो कुछ करना चाहें कर तो सकते हैं ना, हमारा ज्ञान हमारे पास है, हमारा आत्मस्वरूप हममें ही है, हम जैसा बोध करना चाहे, ज्ञान करना चाहे, उपयोग लगाना चाहें लगा सकते हैं। यहाँ यदि संसार को छोड़ने का उपाय बना लें, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो अब तो इसे सुगति ही मिलेगी और अति निकट काल में निर्वाण पद पायगा। बुद्धिमान तो यो करते हैं।

आत्मनिर्णय—भैया! अब हम अपनी-अपनी सोच लें। हम अपनी सूची मूढ़ों में लिखाये कि बुद्धिमान में? प्रोग्राम तो बनाते ही है बहुत से । कुछ इस प्रोग्राम का भी निर्णय कर ले, इन मूर्खों में अपना नाम लिखावें या विवेकियों में? इस अनित्य समागम का लोभ करने वाले तो मूढों में ही अपना नाम लिखाने वाले हैं और इन समस्त पौद्गलिक विभूतियाँ से पृथक् अपने आत्मकल्याण को ही प्रधान समझने वाले पुरुष विवेकियों में नाम लिखने वाले हैं। देखो इस आत्मक्षेत्र के निकट अर्थात् अन्तर की और यह चैतन्य चिन्तामणि रत्न पड़ा हुआ है। ओर बाहर मे ये वैषयिक सुखदु:ख निःसार असार खल के टुकड़े पड़े हुए है। अब देखो, ध्यान से ही आत्मीय आनन्द पाया जा सकता है और ध्यान से ही बाह्य सुख पाये जो सकते हैं। विवेक कर लीजिए कि हमें कैसा ध्यान बनाना चाहिए? कुछ मोही अज्ञानी जीवों से, मोहियों से, पर्याय बुद्धि वालो से प्रशंसा के शब्द सुन लिया तो क्या पाया? उन्होने भी प्रेम से नही बोला, किन्तु स्वयं अपनी कषाय की वंदना को शान्त करने के लिए बोला है। हम आत्मकल्याण की दृष्टि छोड़कर यदि इन खली के टुकड़ों में ही लग जाये तो यह कुछ भी विवेक नही है।

बुद्धिमान की खल मे अनास्था—जिस चीज में से सार निकल जाता है अथवा जिसमे सार नही रहता है, उसका नाम खल है। तिल में सरसों में जो सार है वह तेल है, वह जब नही रहता तो उसकी जो हालत बनती है, उसे लोग खल कहते हैं। खल नाम दुर्जन का भी है, दुष्ट का भी है अयोग्य का भी है। यह सारा समागम खल की तरह है, निःसार है और निमित्त दृष्टि से हमें बाधा पहुँचाने वाला है, यह जानकर विवेकी पुरुष उसमें आदर बुद्धि नही करते हैं।

आर्त और रौद्रध्यान का फंसाव—यह जगत आर्त और रौद्र ध्यान में फंसा है। दो ही तो बातें है इस जीव के परिचय की, एक तो मौज और दूसरी पीड़ा। कोई मौज में मस्त है कोई पीड़ा में दुःखी है। पीड़ा वाले ध्यान का नाम है आर्तध्यान और मौज वाले ध्यान का नाम रोद्रध्यान। पीड़ा में सम्भव है कि क्रूरता न रहे पर मौज में तो क्रूरता रहती है। पीड़ा के समय सम्भव है कि यह पवित्र रहे, पर विषयो के मौज के समय में यह जीव अपवित्र ही रहता है। बुद्धिमानों के लिए सम्पदा विषम और अपवित्र वस्तु है। सम्पदा अपवित्र नही है किन्तु सम्पदा के प्रति जो मोह परिणाम लगता है वह परिणाम अपवित्र है। जगत में न कोई जीव अपना मित्र है, न कोई जीव अपना शत्रु है। अपना राग जिस साधन से पुष्ट है उस साधन के जुटाने वाले को लोग मित्र मानने लगते हैं और उस राग में जिसमें निमित्त से बाधा हुई है उसको शत्रु मान लेते हैं। वास्तव में कोई बाह्य साधन मेरे शत्रु-मित्र नही है। अपनी ही कल्पना मित्र रूप में परिणत होती है, शत्रुरूप में परिणत होती है। वस्तुतः तो ये सभी कल्पनाएं अपनी शत्रु है।

रौद्रध्यान में क्रूरता का संक्लेश—रौद्रध्यान चार प्रकार के है—हिंसानन्द, मृषानन्द, चोर्यानन्द, परिग्रहानन्द। हिंसा करने कराने में मौज मानना, हिंसा करते हुए को देखकर खुश होना इस प्रकार की मौजों का नाम हिंसानन्द है। इन मौजों में क्रूरता भरी हुई है। मृषानन्द झूठ बोलने में झूठ कहलवाने में खुश होना सो मृषानन्द है। कोई किसी को झूठी बात लगाता है मजाक दिल्लगी करता है तो ऐसा करने वाले लोगो का आशय क्रूर है अथवा नही ? क्रूर है। किसी की चीज चुरा लेना अथवा किसी की चीज चुराने अथवा लूटने का उपाय बताना, राय देना और इस ही में मौज मानना ऐसा करने वाले का चित्त दुष्टता और क्रूरता से भरा हुआ है या नही? विषयों के साधन जुटाना, विषयों में ही मग्न रहना इसमें भी क्रूरता पड़ी हुई है । माना तो जा रहा है मौज, परन्तु अपने-अपने परमात्मप्रभु पर घोर अन्याय किया जा रहा है।

आर्तध्यान में क्लेश का संक्लेश—आर्तध्यान में भी मलिनता है। इष्ट का वियोग होने पर, इष्ट के संयोग की आशा बनाए रहना यह है इष्ट वियोगज आर्तध्यान। यहाँ भी ब्रह्मस्वरूप से विमुख होने का प्रसंग आता है। अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग की भावनाएँ बनाना, यही हे अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान। यहाँ भी जीव, आत्मकल्याण से विमुख बन रहा है। बाह्यपदार्थों में आशा लगाए रहना यह वेदना प्रभव और निदान नामक आर्तध्यान है। यहाँ भी इस जीव ने केवल ध्यान ही किया और ध्यान से ही अपना मौज और विषाद

बनाया। यही जीव इस प्रकार का ध्यान न बनाकर वस्तु के यथार्थ स्वतंत्र स्वरूप की और दृष्टि दे देकर यदि सम्यग्ज्ञान पुष्ट करे, सम्यक्त्व पोषण करे तो इसे कौन रोकता है, परन्तु यह मोही प्राणी शुद्ध प्रक्रियाओं को तो त्याग देता है, रागद्वेष मोह मे बसा रहता है।

चैतन्यचिन्तामणि की आस्था का अनुरोध—विवेकी जनो का कर्तव्य है कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके आत्मीय आनन्दस्वरूप के लाभ के लिए धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की उपासना करे। भगवान की आज्ञा प्रमाण अपने कर्तव्य में लगे। ये रागादिक विभाव कब दूर हो, कैसे दूर हो, इसका चिन्तन करे और यथाशक्ति उपाय बनावे। इस लोक की विशालता और इस काल के अनादिनिधनता का विचार करके और भूत काल मे किए गए विचार अन्य जनों पर भी क्या गुजरे, मुझ पर भी क्या गुजरे, इसका यथार्थ चिन्तन करे और कर्मो के फल का भी यथार्थ निर्णय रखे तो इस शुभ ध्यान के प्रताप से अपने को शुद्ध आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। अब एक संकल्प बना ले। आत्मक्षेत्र के भीतरी और चैतन्य चिन्तामणि प्रकाशमान है और इस क्षेत्र में बाहर की और ये विषयकषायरूपी खल के टुकड़े पड़े है। अब किसका आदर करना चाहिए? चैतन्य चिन्तामणि का आदर करना चाहिए। अपने को शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निरखें, इस ही से शुद्ध आनन्द प्राप्त होगा।

श्लोक 21

निरत्ययः।

अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः।।२१।।

आश्रय से आत्म तत्त्व—पूर्व प्रकरण से इस बात का समर्थन हुआ है कि चिन्मात्र चिन्तामणि के लाभ में ही आत्मा का उद्धार है और आत्मा का उपकार इसी स्वभाव के अवलम्बन से है। इस बात को जानकर जिज्ञासु यह जानने की इच्छा कर रहा है कि जिस आत्मतत्त्व के जानने से संसार के समस्त संकट दूर हो जाते हैं और शाश्वत शुद्ध आत्मीय आनन्द मिलता है, तथा साधारण गुण ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाता है, वह आत्मा कैसा है ? इस ही प्रश्न के उत्तर में यह श्लोक आया है। यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय है, देहप्रमाण है, अविनाशी है, अनन्त सुखमय है व विश्वज्ञ है।

आत्मा की स्वसंवेदनगम्यता—यह आत्मा अपने आपको जानने वाले ज्ञान के द्वारा ही जानने में आता है प्रत्येक आत्मा अपने में 'मैं हूँ' ऐसा अनुभव करता है। चाहे कोई किसी रूप में माने, पर प्रत्येक जीव में मैं हूँ, ऐसा विश्वास अवश्य है। मैं अमुक जाति का हूँ पंडित हूँ, मूर्ख हूँ, गृहस्थ हूँ, साधु हूँ, किसी न किसी रूप से मैं हूँ ऐसा प्रत्येक जीव अंतरंग में मंतव्य रख रहा है। जिसके लिए मैं हूँ इस प्रकार का ज्ञान किया जा रहा है जिसको वेदा जा रहा है वह मैं आत्मा हूँ। यह आत्मा स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष के द्वारा वेद्य है।

आत्मा का देहप्रमाण विस्तार—वर्तमान मे यह आत्मा कर्मोदय से प्राप्त छोटे-बड़े अपने शरीर क प्रमाण है। जैसे प्रकाश को, दीपक को घड़े के भीतर रख दें तो इस घड़े में ही प्रकाश हो जाता है, कमरे मे रख दें तो कमरे में फैल जाता है, ऐसे ही यह ज्ञानपुञ्ज आत्मतत्त्व जिस शरीर में रहता है उतने शरीर प्रमाण हो जाता है। चींटी का शरीर हो तो चींटी के शरीर के बराबर आत्मा हो गया, हाथी के शरीर में पहुंचे तो हाथी के शरीर के बराबर फैल गया। यह आत्मा कर्मोदय से प्राप्त शरीर में बद्ध है तो यह शरीर प्रमाण ही तो रहेगा। शरीर से बाहर मैं आत्मा हूँ—ऐसा अनुभव भी नहीं हो रहा है, और शरीर में केवल सिर मैं हूं, हाथ पैर मैं नहीं हूं, ऐसा भी अनुभव नहीं हो रहा हे। तन्मात्र है जितना शरीर मिला है उतने प्रमाण में यह आत्मा विस्तृत है। जब शरीर से मुक्त हो जाता है, सिद्धपद प्राप्त होता है उस समय यह आत्मा जिस शरीर को त्यागकर सिद्ध हुआ है वह शरीर जितने प्रमाण में विस्तार वाला था उतने प्रमाण में विस्तृत रह जाता है, फिर वहाँ घटने और बढ़ने का काम नहीं है। जिस संसार अवस्था में यह जीव जितने बड़े शरीर को प्राप्त करे उतने प्रमाण यह जीव हो जाता है। छोटा शरीर मिला तो छोटा हो जाता है और बड़ा शरीर मिला तो बड़ा हो जाता है, परन्तु सिद्ध अवस्था में न छोटा होने का कारण रहा, न बड़ा होने का कोई कारण रहा, शरीर से मुक्ति हुई, कर्म रहे नहीं, अब बतावो यह आत्मा छोटा बने कि बड़ा हो जाय ? न छोटा बनने का कारण रहा, न बड़ा बनने का कारण रहा, तब चरम शरीर प्रमाण यह आत्मा रहता है। आत्मा तनुमात्र है।

आत्मतत्त्व की नित्ययता—इस आत्मा का कभी विनाश नहीं होता हे। द्रव्यदृष्टि से यह आत्मा नित्य है, शाश्वत है अर्थात् आत्मा नामक वस्तु कभी नष्ट नहीं होती है, उसका परिणमन नया-नया बनेगा। कभी दुःखरूप है, कभी सुखरूप है, कभी कषायरूप है, कभी निष्कषायरूप हो जायगा। आत्मपरिणमन चलता रहता है। किन्तु आत्मा नामक वस्तु वही का वही है, अविनाशी है।

आत्मतत्त्व का सुखमय स्वरूप—यह आत्मा अनन्त सुख वाला है। आत्मा का स्वरूप सुख से रचा हुआ है, आनन्द ही आनन्द इसके स्वभाव में हे, पर जिसे अपने आनन्दस्वरूप का परिचय नहीं है वह पुरूष परद्रव्यों में, विषयों में आशा लगाकर दुःखी होता है और सुख मानता है। यह आत्मा स्वरसतः आनन्दस्वरूप है। कोई-कोई पुरूष तो आनन्दमात्र ही आत्मा को मानते हैं। जैसे कि वे कहते हैं आनंदो ब्रह्मणो रूपं। ब्रह्म का स्वरूप मात्र आनन्द है, पर जैन सिद्धान्त कहता है कि आत्मा केवल आनन्दस्वरूप ही नहीं है, किन्तु ज्ञानानन्दस्वरूप है। ज्ञान न हो तो आनन्द कहाँ विराजे? और आनन्दरूप परिणति न हो तो परिपूर्ण विकास वाला ज्ञान कहाँ विराजे?

आत्मतत्त्व की सर्वज्ञरूपता—यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप है यह तो कहा ही गया है पर ज्ञानस्वरूप भी है। यदि आत्मा ज्ञानरूप न हो तो कुछ व्यवस्था ही न बनेगी। इस समस्त जगत को जाननेवाला कौन है ? इस जगत की व्यवस्था कौन बनाए ? कल्पना करो कि कोई ज्ञानवान पदार्थ न होता जगत में और

ये सब पदार्थ होते तो इनका परिचय कौन करता ? यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है—इसका ज्ञानस्वभाव इसके अनन्त बल को रख रहा है कि ज्ञान से यह लोक और अलोक तीन काल के समस्त पदार्थों को स्पष्ट जान सके। ऐसा यह आत्मा लोक और अलोक का जाननहार है।

एकान्तमन्तव्यनिरास—आत्मा के स्वरूप को बताने वाले इस श्लोक में ५ विशेषण दिए है। आत्मा स्वसम्वेदनगम्य है, शरीरप्रमाण है, अविनाशी है, अनन्त सुख वाला है और लोक का साक्षात् करने वाला है इन विशेषणों से ५ मंतव्यों का खण्डन हो जायगा, जो एकान्त मंतव्य है।

आत्मसत्त्व का समर्थन—कोई यह कहते हैं कि आत्मा तो कुछ प्रमाण का विषय भी नहीं है जो विषय प्रमाण में आये, युक्ति में उतरे, उसके गुणों का भी वर्णन करियेगा। आत्मपदार्थ कुछ पदार्थ ही नहीं, भ्रम है। लोगों ने बहका रक्खा है। धर्म के नाम पर जो ऋषि हुए, त्यागी हुए, साधु हुए, एक धर्म का ऐसा ढकोसला बता दिया है कि लोग धर्म में उलझे रहे और उनकी इस उलझन का लाभ साधु ऋषि संत लूटा करे, उनको मुफ्त में भक्ति मिले, आदर मिले। आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है कोई लोग ऐसा कहते हैं। उनके इस मंतव्य का निरास इस विशेषण से हो गया है कि यह आत्मा स्वसम्वेदनगम्य है, स्पष्ट विदित है एक अहं प्रत्यय के द्वारा भला जो आत्मा को मना भी कर रहे है—मैं आत्मा नहीं हूँ, इस मना करने में भी कुछ ज्ञान और कुछ अनुभव है कि नहीं? है, चाहे आत्मा को मना करने के रूप से ही अनुभव हो। पर कुछ अनुभव हुआ ना, कुछ ज्ञान हुआ। आत्मा नहीं हूं, मैं कुछ भी न हूं, केवल भ्रम मात्र हूं ऐसी भी समझ किसी में हुई ना। यह समझ जिसमें हुई हो वही आत्मा है जो आत्मा को मना करे कि आत्मा कुछ नहीं है वही आत्मा है। जो आत्मा को माने कि मैं आत्मा ऐसा हूं वही आत्मा है।

स्वसंवेदन प्रमाण का विषय—यह आत्मा स्वसम्वेदन के द्वारा स्पष्ट प्रसिद्ध है। यह आत्मा अमूर्तिक है इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है इस कारण कोई इस बात पर अड़ जाय कि तुम हमको आँखों दिखा दो कि यह आत्मा है तो मान लूँगा। तो यों आँखों कैसे दिखाया जा सकता है? उसमें कुछ रूप हो, लाल पीला आदि रंग हो तो कुछ आँखों से भी दिखाने का यत्न किया जाय, पर वहां रूप नहीं है, चखकर भी नहीं बताया जा सकता है। क्योंकि आत्मा में स्पर्श भी नहीं हे। यह आत्मा अमूर्तिक है, न यह इन्द्रियों का विषय है और न मनका विषय है। इसी से लोग यह कह देते हैं कि आत्मा किसी प्रमाण का विषय भी नहीं है, परन्तु यह मंतव्य ठीक नहीं है।

सर्वजीवों में अहं प्रत्ययवेदन—भैया ! मैं हूं, ऐसा प्रत्येक जीव में अनुभव चल रहा है, और कोई पुरूष बाह्यविकल्पों का परिहार करके अन्तर्मुखाकार बनकर अपने आपमें जो-जो अनुभव करेगा, जो सत्य स्वभाव का प्रकाश होगा उस सत्य प्रकाश के अनुभव को साक्षात् स्पष्ट जानता है कि लो यह मैं हूं। आत्मा का परिज्ञान

करना सबसे महान् उत्कृष्ट पुरूषार्थ है। इस धन वैभव का क्या है? रहे तो रहे, न रहे तो न रहे। न रहना हो तो आप क्या करेंगे, और रहना हो तो भी आप क्या कर रहे है? आप तो सर्वत्र केवलज्ञान ही कर रहे हैं, कल्पना ही कर पाते हैं। कोई-कोई पुरुष बाह्य विकल्पों का परिहार करके परमविश्राम पाये तो वहाँ अपने आप ही यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मप्रकाश उपयोग में प्रकट हो जाता है। जब इस आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध समझमें आती है, इस आत्मा को असिद्ध कहना ठीक नहीं है।

तनुमात्रप्रतिपादन से सर्व व्यापकत्व का निरसन—दूसरा विशेषण इसमें दिया गया है—आत्मा शरीर मात्र है। इसके विपरीत कुछ लोग तो यह कहते हैं कि यह आत्मा आकाश की तरह व्यापक है, आकाश के बराबर फैला हुआ है। जिस प्रकार सर्वत्र आकाश विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र मौजूद रहता है, कहीं आत्मा का अभाव नहीं है। जैसे आकाश तो एक है और घड़े में जो पोल है उसमें समाये हुए आकाश को लोग कहते हे कि घड़े का आकाश है यह कमरे का आकाश है। जैसे उन घड़ों ने भीत और घड़ियालों के आवरण के कारण आकाश के भेद कर दिए जाते हैं कि यह अमुक आत्मा है, यह अमुक आत्मा है ऐसा एक मंतव्य है, परन्तु वह मंतव्य ठीक नहीं है। जो चीज एक होती है और जितनी बड़ी होती है उस एक में किसी भी जगह कुछ परिणमन हो तो पूरे में हुआ करता है। यहाँ तो भिन्न-भिन्न देहियों में विभिन्न परिणाम देखा जा रहा है।

पदार्थ के एकत्व का प्रतिबोध—यह चौकी रखी है, यह एक चीज नहीं तभी तो चौकी के एक खूँट मे आग लग जाये तो धीरे-धीरे पूरी जलती हे। एक पदार्थ वह होता है कि एक परिणमन जितने में पूरे में नियम से उसी समय होना ही पडे। जैसे एक परमाणु। परमाणु में जो भी परिणमन होता है वह सम्पूर्ण में होता है। कितना है परमाणु सम्पूर्ण ? एक प्रदेशमात्र, उसे निरंश कहते हैं। तो एक परिणमन जितने में नियम से हो उतने को एक कहा करते हैं। यह आत्मा सर्वत्र व्यापक केवल एक ही होता तो हम जो विचार करते हैं, मानते हैं उतना जो ज्ञानका परिणमन हुआ, वह परिणमन पूरे आत्मा में होना चाहिए। फिर यह भेद क्यों हो जायगा कि आप जो जानते हैं सो आप ही जानते हैं, मैं नहीं जान सकता। जब एक ही आत्मा है तो जो भी परिणमन किसी जगह हो वह परिणमन पूरे आत्मा में होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है हममें सुख परिणमन हो तो वह हममें ही होता है आपमें नहीं जा सकता है। जो आपमें होता है, हम सबमें नहीं जा सकता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा एक सर्वव्यापक नहीं है। रही आकाश की बात। दृष्टान्त में जो कहा गया था तो घड़े मे, हंडे में, आकाश कुछ घड़े का, हंडे का अलग-अलग नहीं है। आकाश तो वही एक है। कही घड़े का उठाकर धर देने से वहाँ का आकाश न रहे, घड़े के साथ चल आए, ऐसा नहीं होता है। आकाश मे जो भी एक परिणमन होता है वह पूरे आकाश में होता है। वह एक वस्तु है।

आत्मा के अत्यन्त अल्पीयस्त्व का निरसन—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा बट के बीज के दाने की तरह छोटा है। जैसे बड़ के फल का दाना होता है तो वह सरसों बराबर भी नहीं है, तिल के दाने बराबर भी

नहीं है। इतना छोटा बीज और किसी का होता ही नहीं है। तो बट के बीज का जितना एक दाना होता है आत्मा तो उतना ही छोटा है इस सारे शरीर में। पर यह छोटा आत्मा रात दिन इस शरीर में इतना जल्दी चक्कर लगाता रहता है कि हम आपको ऐसा मालूम होता है कि मैं इतना बड़ा हूं। जैसे किसी गोल चका में तीन जगह, दो जगह आग लगा दी जाय कपड़ा बाँधकर और उस चके को बहुत तेजी से गोल-गोल फिराया जाय तो आप यह नहीं परख पाते हैं कि इसमें तीन जगह आग है। वह एक ही जगह मालूम होती है। अच्छा, चका और आग की बात दूर जाने दो। अब जो बिजली का पंखा चलता है उसमें पंखुड़ियां है पर जब पंखा चलता है तो यही नहीं मालूम होता है कि इसमें तीन पंखुड़ियाँ है वह पूरा एक नजर आता है। इससे भी अधिक वेग से चलने वाला आत्मा यों नहीं विदित हो पाता है कि यह आत्मा बट के दाने के बराबर सूक्ष्म है, ऐसा एक मंतव्य है। वह भी मंतव्य ठीक नहीं है।

आत्मा के देहप्रमाण विस्तार का समर्थन—आत्मा के बट बीज के बराबर छोटा होने का कोई कारण नहीं है, और यह इस तरह के चक्कर अगर लगाए तो शरीर तो बड़े बेहूदे ढंग का है, दो टांगे, इतनी लम्बी पसर गयी है, २ हाथ ऐसे अलग-अलग निकल गए है, इसमें आत्मा किस तरह घूमें, कहाँ-कहाँ जाय? यह आत्मा न तो बड़ के बीज के दाने बराबर छोटा है और न आकाश की तरह एक सर्वव्यापक है किन्तु कर्मोदयानुसार जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है तो उस शरीर प्रमाण ही इस आत्मा का विस्तार बनता है। इस आत्मा के प्रदेश में संकोच और विस्तार करने की प्रकृति है। छोटा शरीर मिला तो प्रदेश संकुचित हो गए बड़ा शरीर मिला तो प्रदेश फैल गए। यह आत्मा कर्मोदय से प्राप्त अपने-अपने शरीर के प्रमाण ही विस्तार में रहता है।

चारुवाक्—आत्मा के सम्बंध में सिद्धान्त रूप से जो यह मान्यता है कि यह शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों से बनता है ऐसा सिद्धान्त मानने वालों का नाम है चार्वाक, जिसे सम्हाल करके बोलिये चारुवाक। चारु मायने प्रिय, वाक् मायने वचन, जिसके वचन सारी दुनिया को प्रिय लगें उसका नाम है चारुवाक। यदि कोई यह कहे कि क्या आत्मा और धर्म के झगड़े में पड़ते हो, खूब खावो, पियो, मौज उड़ावो और देखो इन्द्रिय के विषयो में कितना मौज है, कौन देख आया है कि क्या है आगे? है ही कुछ नहीं आगे। जो कुछ है वह दिखता हुआ सब कुछ है इसलिए आराम से रहो, खूब मौज से रहो, कर्जा हो तो हो जाने दो मगर खूब घी शक्कर खावो। आगे न चुकाना पड़ेगा, जीव आगे कहाँ रहता है, ऐसी बातें सुनने में जगत के लौकिक जीवों को तो प्रिय लगती होगी, ऐसे लौकिक वचन जिनको प्रिय लगते हैं उनका नाम है चारुवाक। यह तो सिद्धान्त वाली बात है, परन्तु इस सिद्धान्त का परिचय नहीं है तो न सही किन्तु इस मंतव्य वाले इने गिने बिरले तत्त्वज्ञ साधु संतों को छोड़कर सारी दुनिया इसके मत की अनुयायी है।

नास्तिकता—भैया ! यों तो नाम के लिए कोई जैन कहलाए फिर भी इन जैनों में जैसे मानो आज संख्या लाखों की है तो उन जैनों में व्यवहारिक रूप से और मंतव्य के रूप से चारुवाक की श्रेणी में अधिक होगा।

और भी जितने धर्म मजहब है उनमें भी चारुवाक भरे पड़े है। जो आस्तिक नहीं है वे सब चारुवाक है। यहाँ आस्तिक का अर्थ है पदार्थ की जिसकी जैसी सत्ता है, अस्तित्त्व है उसे जो माने उसका नाम आस्तिक है, और जो पदार्थ का अस्तित्त्व न मानें उनका नाम नास्तिक है। यह तो मनगढ़न्त परिभाषा है कि जो हमारे शास्त्रों को न माने सो नास्तिक है। जो हमारे वेदों को न माने सो नास्तिक, जो हमारे कुरान को न माने सो नास्तिक। हर एक कोई अपना-अपना अर्थ लगा ले, कोई काफिर शब्द कहता है, कोई नास्तिक शब्द कहता है, कोई मिथ्यादृष्टि शब्द कहता है, ये सब एकार्थक शब्द है। नास्तिक का अर्थ यह नहीं है कि जो मेरे मत की बात न माने सो नास्तिक, किन्तु नास्तिक का अर्थ है पदार्थ की जैसी सत्ता है, अस्तित्त्व है उस अस्तित्त्व का न होना माने सो नास्तिक है। नास्तिक शब्द में कहाँ लिखा है यह कि वेद को या अमुक मजहब को या इस पुराण को न माने सो नास्तिक उसमें दो ही तो शब्द है, न और अस्ति। जैसा जो अस्ति है उसे न माने सो नास्तिक।

लौकायतिकता—चारुवाक सिद्धान्त में यह मत बना है कि आत्मा कुछ नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु के संयोग से एक नवीन शक्ति प्रकट हो जाती है जिसे लोग जीव कहते हैं। जैसे महुवा और कोदो आदिक जो मादक पदार्थ है उनका सम्पर्क हो, वे सड़े गले तो एक मादक शक्ति पैदा हो जाती है जिसके सेवन से, नशा जनक उन्मादक पदार्थों के प्रयोग से मनुष्य पागल हो जाता है। तो जैसे शराब कोदो में नहीं भरी पड़ी है, कोदो को लोग खाते हैं, उसके चावल खाते हैं, रोटी खाते है? कोदो में कहाँ शराब है पर कोदो और अन्य-अन्य पदार्थों को मिला दिया जाय तो विधिपूर्वक उन पदार्थों का संयोग होने से शराब बन जाती है, ऐसे ही पृथ्वी में समझ नहीं है, जल में चेतना नहीं है, अग्नि में नहीं है, वायु में नहीं है, पर इसका विधिपूर्वक संयोग हो जाय तो चेतना शक्ति हो जाती है ऐसा चारुवाक का सिद्धान्त है।

चार्वाकसिद्धान्त में आत्मविनाश की विधि—चार्वाक मन्तव्य में यह धारणा जमी हुई है कि पृथ्वी आदि बिखरे कि चेतना मूल से खतम हो गई। पृथ्वी-पृथ्वी से मिल गयी, अग्नि-अग्नि में, जल-जल में, वायु-वायु में, चेतना समाप्त। बच्चे लोग जब अपनी धोती सुखाते हैं तो ऐसा बोलते हैं कि कुवां का पानी कुवां में जाय, तला का पानी तला में जाय, ऐसा काम बच्चे लोग कलासहित करते हैं। सीधे काम करने की उनकी प्रकृति नहीं है। तो जैसे उन बच्चों का मंतव्य है कि हमारी धोती में तला का पानी चिपका है जिससे गीली है तो तला का पानी तला में चला जाय ऐसे ही इस चारुवाक बच्चे का यह मंतव्य है कि इस मुझमें जो अंश जहाँ का हो पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व जो मुझमें शामिल हो वे तत्त्व बिखर जायेंगे तो आत्मा मिट गया। कितने ही लोग मरना चाहते हैं और कितने ही लोग जीना चाहते हैं। कुछ सुख भरी जिन्दगी हो तो जीना अच्छा है और क्लेशकारी जिन्दगी हो तो मरना अच्छा है। उनका जीना भी मुफ्त है और मरना भी मुफ्त है अर्थात् मरकर भी कुछ न रहेगा।

अत्यय शब्द का भाव—विनाशवादी लोग इस आत्मा का अस्तित्त्व नहीं मानते हैं। वे जानते हैं कि गर्भ से लेकर मरने तक ही यह जीव है आगे यह जीव नहीं है। इस मंतव्य का खण्डन करने के लिए इस श्लोक में

निरत्ययः शब्द दिया है। आत्मा की जानकारी के लिए यह ५ विशेषणों का विवरण चल रहा है। जिससे तीसरा विशेषण है निरत्ययः। आत्मा अविनाशी है। अत्यय का अर्थ है अतिक्रान्त हो गया है अय मायने आना जहाँ याने अत्यय अभाव को कहते हैं। अत्यय न हुआ जहाँ उसका नाम है निरत्ययः। लोग निरत्ययः का अर्थ सीधा नष्ट हो जाना कह देते हैं। ठीक है, निरत्यय का अर्थ है नष्ट होना। किन्तु नष्ट होने मे होता क्या है? तो नष्ट होने का यह अत्यय जो नाम है उसमे यह मर्म पड़ा है कि इसमें अब परिणमन न होगा। जब तक परिणमन है तब तक पदार्थ है। जब परिणमन ही न हो तो पदार्थ ही कहाँ रहेगा? न हो परिणमन तो मूल से नाश हो गया। यह कठोर शब्द है अत्यय। विनाश शब्द के जितने पर्यायवाची शब्द है उन सबमें यह बड़ा कठोर शब्द है।

विलय शब्द का भाव—विनाश का पर्यायवाची शब्द विलय है, किन्तु विलय शब्द कठोर नहीं है। पर्याय का विलय हो गया अर्थात् पर्याय विलीन हो गयी। पर्याय द्रव्य में समा गयी—इसका कुछ सत्त्व रखा, कठोरता नहीं वर्ती, और होता भी यही है विनाश में कि नवीन पर्याय द्रव्य में विलीन हो जाती है। जैसे एक बूढिया रहटा कातती थी। उसका तकुवा टेढ़ा हो गया तो उसे लेकर वह लोहार के पास पहुंची, बोली कि इस तकुवा की टेढ़ निकाल दोगे? बोला हाँ निकाल देंगे, दो टके (चार पैसे) लेंगे। ठीक है। लोहार ने उसे सीधा कर दिया, टेढ़ निकल गयी। तो जब लोहार उसे देने लगा तो कहा कि अब लावो २ टके पैसे। तो बुढ़िया बोली कि तुमने जो इस तकुवे की टेढ़ निकाली है वह हमारे हाथ में दे दो तब अपने टके ले लो। अब लोहार बड़ा हैरान हुआ। सोचा कि कैसे इस तकुवे की टेढ़ को इसके हाथ में दे-दे? हाँ वह ऐसा कर सकता है कि उस तकुवे को फिर टेढ़ा कर दे। सोचा कि इस तकुवे के टेढ़ा करने में हैरान भी हो तो भी यह हमारे दो टके न देगी। तो जैसे वहाँ यह बतावो कि तकुवा में जो टेढ़ थी वह गयी कहाँ? उस तकुवे से निकलकर कही बाहर गयी है क्या? अथवा वह टेढ़ तकुवा में अब भी धंसी हुई है क्या? न टेढ़ बाहर गयी है, न टेढ़ तकुवे मे धंसी है तो हुआ क्या उसका ? टेढ़ तकुवा में विलीन हो गयी। न यहाँ दूर होने की बात कही, न तकुवा में रहने की बात कही और दोनों की बात कह दी। तो विनाश का अर्थ विलीन भी है पर यह कोमल प्रयोग है।

आत्मा की निरत्ययरूपता—यह चारुवाक विलय शब्द जैसे कोमल प्रयोग को भी राजी नहीं है, वह मानता है अत्यय। जहाँ अत्यय होता ही नहीं है, अय से अतिक्रान्त हो गया, अय से ही पर्यय शब्द बना है, पर्यय और पर्याय दोनों का एक ही अर्थ है। जैसे मनःपर्ययज्ञान । तो कही इस परिणमन का नाम पर्यय भी रख दिया है। कही इसका नाम पर्याय भी रख दिया है। आचार्य कहते हैं कि आत्मा निरत्यय है, उसका अभाव नहीं होता है विनाश नहीं होता है। यह द्रव्यरूप से नित्य है। कुछ भी परिणमन चलो, व्यक्त हो, अव्यक्त हो वह परिणमन जिस स्रोतभूत द्रव्य के आधार में होता है वह द्रव्य शाश्वत रहता है। आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है। यद्यपि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा से आत्मा प्रतिक्षण विनाशीक है, फिर भी द्रव्यदृष्टि से देखो तो शाश्वत वही का वही है। पर्यायदृष्टि से देखने पर ही प्रतीत होगा कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें प्रतिसमय नवीन-नवीन परिणमन

करता है, वह नवीन परिणमन पूर्व परिणमन से अत्यन्त विलक्षण नहीं है अथवा समान हो तो वहाँ यह परिचय नहीं हो पाता कि इस पदार्थ में कुछ बदल हुई।

पर्यायदृष्टि में क्षणिक रूपता—परमात्मा का केवलज्ञान जैसा शुद्ध परिणमन भी केवलज्ञान भी परमार्थतः प्रतिक्षण नवीन परिणमन से रहता है, यद्यपि वह अत्यन्त समान है, जो पूर्वसमय में विषय था केवलज्ञान का वही का वही उतना का ही उतना अगले-अगले समय में विषय रहता है फिर भी परिणमन न्यारा-न्यारा है। जैसे बिजली का बल्ब १५ मिनट तक रोशनी करता रहा और पूरे पावर से बिजली है, उसमें कुछ कमीबेशी नहीं चल रही है, बिल्कुल एकसा प्रकाश है। इस बल्ब ने जो एक मिनट पहिले प्रकाशित किया था वही का वही प्रकाश दूसरे मिनट में भी प्रकाशित है फिर भी पहिले मिनट की बिजली का पुरूषार्थ पहिले मिनट में था, दूसरे मिनट नया पुरुषार्थ है, नई शक्ति का परिणमन है, विषय भले ही समान है किन्तु परिणमने वाला पदार्थ प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय से परिणमता है। यो पहिले समय की पर्याय अगले समय में भी नहीं रहती है, इतना क्षणिक है समस्त विश्व, लेकिन यह पर्यायदृष्टि से क्षणिक है।

विभावपरिणति की क्षणिकरूपता—संसारी जीव में किसी वस्तुविषयक प्रेम हुआ, राग परिणमन हुआ तो जब तक वह राग अन्तर्मुहूर्त तक न चलता रहे, न बनता रहे तब तक हम आपके ज्ञान में नहीं आ समता। हम जिस राग का प्रयोग करते हैं, जिस राग से प्रभावित होते हैं वह एक समय का राग नहीं है। कोई भी संसारी प्राणी एक समय के राग से प्रभावित नहीं होता, किन्तु असंख्यात समय तक वह राग-राग चलता रहे तब हम उपयोग में, ग्रहण में आता है और हम प्रभावित होते हैं, फिर भी उपयोग के विषयभूत उस रागपर्याय समूह में प्रतिक्षण जो राग परिणमन है वह प्रतिसमय का एका एक परिणमन है, किन्तु वह एक समय के परिणमन प्रभु के ज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं, क्योंकि उनका केवलज्ञान निरपेक्ष असहाय होता हुआ प्रति समय की परिणति को जाननेवाला है, पर छद्मस्थ जीव एक समय के रागपरिणमन को ग्रहण नहीं कर सकते। यो उपयोग द्वारा जान भी नहीं सकते। यद्यपि इस ही उपयोग से हम राग के एक समय की चर्चा कर रहे हैं। समयवर्ती राग होता है, हम चर्चा कर रहे हैं, पर विशद परिचय नहीं हो सकता। हम छद्मस्थ जान लेते हैं युक्तियों से, आगम से, पर जिसे अनुभव में आना कहो, परिचय में आना कहो वैसा एक समय का राग परिचय में आ ही नहीं सकता, किन्तु होता है अवश्य प्रतिसमय में परिणमन और एक समय का परिणमन दूसरे समय रहता नहीं है।

परिणमन के आधार की ध्रुवता—प्रतिक्षण परिणामी क्षणिक है यह आत्मा और समस्त पदार्थ परन्तु परिणमन दृष्टि से यह क्षणिकता है। अत्यय नहीं हो गया उसका, पर्यायों का आना नहीं खत्म हुआ है, पर्यायें चलती ही रहेंगी। एक पर्याय मिटने के बाद उसमें दूसरी पर्याय आती है, तो जिसमे पर्याय आयी वह पदार्थ शाश्वत है। यह आना जाना किस पर हुआ? वह पदार्थ ही कुछ न हो, मात्र परिणमन ही हो सब, तो सिद्धि नहीं हो सकती। क्षणिकवादी लोग परिणमन को ही सर्वस्व पदार्थ समझते हैं परन्तु परिणमन का आधार अवश्य हुआ करता है

और वह अविनाशी है। इस प्रकार यह आत्मा किन्ही बाह्य चीजों से उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु यह अविनाशी ध्रुव पदार्थ है।

आत्मा आनन्दमयता व ज्ञानस्वरूपता—चौथे विशेषण में कहा है कि आत्मा सुखमय है। कोई मंतव्य ऐसे है कि आत्मा में सुख नाम का गुण ही नहीं मानते किन्तु कलंक मानते हैं, इसी प्रकार ज्ञान नाम का गुण ही नहीं मानते किन्तु कलंक मानते हैं। इस सुख का और इस ज्ञानका जब विनाश होगा तभी मोक्ष मिल सकेगा, ऐसा मंतव्य है। वर्तमान परिचय की दृष्टि से उन्होंने इसकी शुद्धता मानी है, क्योंकि लौकिक सुख और लौकिक ज्ञान इन दोनों से ज्ञानी पुरुष परेशानी मानता है। ज्ञानी तो शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्द को ही उपादेय मानता है। आत्मा का ज्ञान और सुख दोनों ही स्वरूप है, इसी कारण यह आत्मा अनन्त सुखवान है और लोक अलोक समस्त पदार्थों का जाननहार है। इस प्रकार यह आत्मा जिसके ध्यान से सहज आनन्द प्रकट होता है वह आत्मा स्वसम्वेदनगम्य है, शरीर मात्र है अर्थात् शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, सुखस्वरूप है और समस्त लोकालोक का जाननहार है, ऐसे परमात्मतत्त्व में जो आदर करता है वह विवेकी पुरुष है।

श्लोक 22

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।

आत्मानमात्मवानध्यायेदात्मनैवात्मनात्मनि।।२२।।

आत्मा में अभेद षट्कारता—पूर्व श्लोक में आत्मा का अस्तित्त्व प्रमाण सिद्ध बताया है। प्रमाण सिद्ध आत्मा के परिज्ञान होने पर अब यह उत्सुकता होती है कि इस आत्मा की उपासना किस प्रकार करना चाहिए? उसके उपासना की विधि इस श्लोक में कही जा रही ह। कल्याणार्थी आत्मा इन्द्रिय के विषयों को संयत करके रोक करके एकाग्रचित्त होकर अपने आत्मा में स्थित अपने आत्मा को अपने आत्म उपयोग द्वारा ध्यान करे। आत्मा के परिज्ञान में आत्मा ही तो कारण है और आत्मा ही आधार है। (१) कर्त्ता—जानने वाला भी यह आत्मा स्वयं है (२) कर्म—कर्म जिसको जाना जा रहा है वह आत्मा भी स्वयं है। (३) करण—जिसके द्वारा जाना जा रहा है वह करण भी स्वयं है (४) अधिकरण—जिसमें जाना जा रहा है वह आधार भी स्वयं है। इसके चार कारकों का वर्णन आया है। साथ ही दो कारकों का भी मंतव्य गर्भित है कि (५) उपादान—जिससे जाना जा रहा है अर्थात् जानन किया, क्षणिक रूप में उपस्थित होकर ज्ञान ने जिस ध्रुव पदार्थ का संकेत किया वह अपादान भूत आत्मा भी स्वयं है (६) सम्प्रदान—जिसके लिए जाना जा रहा है वह प्रयोजन भी स्वयं है।

अभेदषट्कारता पर एक दृष्टान्त—जैसे कोई साँप लम्बा अपने शरीर को कुंडलिया बनाकर गोलमटोल करके बैठ जाय तो वहाँ कुंडलिया रूप कौन बनता है? सांप, और किसको कुंडली बनाता है? अपने को और किस चीज के द्वारा कुण्डली बनाता है? अपने आपके द्वारा, और कुण्डली बनाने का प्रयोजन क्या है, किसके लिए

कुण्डलीरूप बनाता है? अपने आपके आराम के लिए, अपने आपकी वृत्ति के लिए कुण्डली बनाता है, और यह कुण्डली बनाने रूप परिणमन जो कि क्षणिक है अर्थात् अभी बनाया है, कुछ समय बाद मिटा भी देगा सो कुण्डलियाँ रूप परिणमन किस पदार्थ से बनाता है? उस परिणति में ध्रुव पदार्थ क्या है? तो दृष्टान्त में वह सर्प स्वयं ही है और यह कुण्डली बनी किसमें है? उस सांप में ही है। जैसे वहाँ अभेदकारक स्पष्ट समझ में आता है इससे भी अधिक स्पष्ट ज्ञानियों की दृष्टि में आत्मा के अभेदकारकत्वपना अनुभव में आता है। यह आता स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष अनुभव करने के योग्य है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के उद्योग के उपाय—वह स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष कैसे बने, उसका उपाय है इस सहज आत्मस्वरूप की एकाग्रता करना। इस आत्मतत्त्व पर एकाग्ररूप से बना हुआ उपयोग आत्मा का स्वसम्वेदन करा देता है। चित्त की एकाग्रता के उपाय है कषायों की शान्ति करना। जब तक कषायें शान्त नहीं होती है चित्त एकाग्र नहीं होता है। कषायों के शांत किए बिना लौकिक पदार्थों के उपयोग में भी एकाग्रता नहीं रहती, फिर शान्त स्वभावी निज आत्मतत्त्व के उपयोग में स्थिरता तो कषायों के शांत किए बिना असम्भव है, अतः एकाग्रता करने के लिए कषायों की शान्ति आवश्यक है। कषाय दब जाय, शान्त हो जाय, साथ ही कषाय शमन के लिए इन्द्रिय का दमन आवश्यक है। ये इन्द्रियाँ उद्दण्ड होकर अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही है अथवा यह उपयोग इन्द्रिय के विषयों मे आसक्त हो रहा है, उनसे यह सुख मानता है और उसमें ही हित समझता है, ऐसे इन्द्रिय विषय की प्रवृत्ति में चित्त का अस्थिर होना प्राकृतिक बात है। और कषाय बढ़ते रहना भी प्राकृतिक है इसलिए इन्द्रिय के दमन की भी प्रथम आवश्यकता है। जो जीव इन्द्रिय का दमन नहीं कर सकता वह चित्त को एकाग्र नहीं बना सकता। इसलिए इन्द्रिय के विषयों का निरोध भी आवश्यक है। जब इन्द्रिय के विषयों का निरोध हो जाय तो आत्मा में समता परिणाम जाग्रत होता है। इस समता परिणाम का ही नाम आत्मबल है। जहाँ यह आत्मबल प्रकट हुआ है वहाँ उपयोग स्थिर है, यो उपयोग को एकाग्र करके स्वसम्वेदन प्रत्यय के द्वारा यह आत्मा अनुभव में आता है।

आत्मा में स्वपरप्रकाशकता का स्वभाव—इस आत्मा में स्वपरप्रकाशकता का स्वभाव पड़ा हुआ है। जैसे दीपक स्वपर प्रकाशक है ऐसे ही आत्मा स्वपर का जाननहार है। जैसे कमरे मे दीपक जलता हो तो कोई यह नहीं कहता कि दीपक को ढूँढ़ने के लिए मुझे दीपक दो या बैट्री दो, ऐसे ही यह आत्मा परपदार्थों का भी प्रकाशक है और साथ ही अपने आपका भी प्रकाशक है। इस कारण आत्मा के जानने के लिए भी अन्य पदार्थ की, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है। तब जो पुरूष आत्मा का ज्ञान चाहते हैं उन्हें प्रथम तो यह विश्वास करना चाहिए कि मैं अपने आत्मा का ज्ञान बड़ी सुगमता से कर सकता हूं क्योंकि आत्मा ही तो स्वयं ज्ञानमय है और उस ज्ञानमय स्वरूप से ही इस ज्ञानमय आत्मा को जानना है। इस कारण मैं आत्मा का सुगमतया ज्ञान कर सकता हूं।

आत्म परिज्ञान व धर्मपालन में पर की निरपेक्षता—भैया ! आत्मा के परिज्ञान के लिए अन्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करनी है। मैं कैसे आत्मा का ज्ञान करूँ? मेरे पास इतना धन नहीं है कि आत्मा के ज्ञान की बात बनाऊँ। आत्मा के ज्ञान में धन की आवश्यकता नहीं है। जैसे कुछ लोग धर्म धारण के प्रसंग में कहने लगते हैं कि हमारे धन की स्थिति कुछ अच्छी होती तो हम जरूर धर्म पालते, प्रतिमा पालते, पर धर्म के धारण में आर्थिक स्थिति की पराधीनता है कहाँ? धर्म किसे कहते हैं, वह धर्म तो समस्त परपदार्थों से विविक्त होकर ही प्रकट होता है। जैसे लोग कह देते हैं कि शुद्ध खान पान के लिए कुछ विशेष पैसे की जरूरत पड़ती है। शुद्ध घी बनाना है, शुद्ध आटा तैयार करना है तो कुछ धन ज्यादा लगेगा तब शुद्ध भोजन किया जायगा और धर्म पालन होगा, ऐसा सोचते हे लोग, परन्तु पदार्थों के शुद्ध बनाने में कुछ अधिक व्यय नहीं होता। खाना तो उसे था ही, खाता वह अशुद्ध रीति से, पर शुद्ध रीति के भोजन में कुछ धन की सापेक्षता विशेष नहीं हुई है, भोजनमात्र में जो सापेक्षता है उतने ही व्यय की अपेक्षा शुद्ध भोजन में है, परिश्रम की थोड़ी आवश्यकता हुई है। धर्म पालन धन के आधीन नहीं है। फिर अध्यात्म धर्म पालन में जो वास्तविक धर्मपालन है उसमें तो धन की रंच भी आवश्यकता नहीं होती है।

आत्मज्ञान में परद्रव्य की अटक का अभाव—जो लखपति करोड़पति पुरूष है वे आत्मा का ज्ञान जल्दी कर लें और गरीब न कर पाये ऐसी उलझन आत्मा के ज्ञान में नहीं हे। बल्कि अमीर पुरुष, लखपति करोड़पति पुरूष प्रायः धन की और आकृष्ट होगा, धन की तृष्णा में रत रहेगा, उसे आत्मज्ञान होना कठिन है, और कष्ट में, दरिद्रता मे पड़ा हुआ पुरूष चूँकि अपने चित्त की लम्बी छलांग नहीं मारता है अतः अपने आपको अपने आपके द्वारा अपने आप में अपने आपके सहज स्वरूप के रूप में ध्यान करते रहना चाहिए। बाह्यपदार्थों का विकल्प टूटे तो स्वरसतः स्वयं ही अपने आत्मा का प्रतिबोध होता है।

आत्म परिज्ञानार्थ स्वरूप प्रतिबोध की आवश्यकता—यह आत्म परिज्ञान बने इसके लिए पदार्थ विषयक स्वरूप का स्पष्ट प्रतिबोध होना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्यायस्वरूप है। उदाहरण में जैसे यह मैं आत्मा आत्मद्रव्यत्व, आत्मशक्ति और आत्म परिणमन से युक्त हूं।

आत्मा में गुण व पर्याय के परिज्ञान की पद्धति—आत्मपरिणमन का परिज्ञान बहुत सुगम है क्योंकि वह स्पष्ट रूप है। रागद्वेषादि हो रहे हो अथवा वीतरागता बन रही हो वह सब आत्मा का परिणमन है। ये समस्त आत्मा के परिणमन अपनी शक्ति के आधार से प्रकट होते हैं, अर्थात् जितने प्रकार के परिणमन है उतने प्रकार की शक्ति पदार्थ में जानना चाहिए। कोई भी परिणमन उस परिणमन की शक्ति से ही तो प्रकट हुआ है। जैसे आत्मा में जानना परिणमन होता है तो जानन की शक्ति है तभी जानन परिणमन होता है, और यह जानना परिणमन जानन शक्ति का व्यक्त रूप है। यह विशिष्ट जानना नष्ट हो जायगा फिर और कुछ जानना बनेगा, वह भी नष्ट होगा। अन्य कुछ जानन बनेगा, इस प्रकार जानन परिणमन की संतति चलती जाती है। वह संतति किसमें बनी

है? जिसमें बनी है वह है ज्ञान शक्ति, ज्ञानस्वभाव, ज्ञानगुण। तो जैसे जानन की परिणति का आधारभूत ज्ञानगुण है ऐसे ही आनन्द की परिणति का आधारभूत आनन्दगुण है। किसी भी प्रकार के विश्वास का आधारभूत श्रद्धा ज्ञानगुण है, क्रोधादिक कषायों का अथवा शान्त परिणमन का आधारभूत चारित्र गुण है। इस प्रकार जितने भी प्रकार के परिणमन पाये जाते हैं उतनी ही आत्मा में शक्तियाँ है, उनका ही नाम गुण है।

आत्मपदार्थ की द्रव्यरूपता—इन गुण और पर्यायों को आधारभूत द्रव्यपना भी इस आत्मा में मौजूद है, जो गुण पर्यायवान हो वह द्रव्य है, जो द्रव्य की शक्ति है वह गुण है और उन गुणों का जो व्यक्त रूप है वह पर्याय है। यों आत्मपदार्थ द्रव्यत्व, गुण और पर्याय से युक्त है।

आत्मज्ञान में स्वसंवेदन की विधि—प्रत्येक पदार्थ अपने आपके ही द्रव्य गुण पर्याय से है, किसी अन्य के द्रव्य गुण पर्याय से नहीं है। अब यहाँ अन्य द्रव्य, अन्य गुण, अन्य पर्याय का विकल्प तोड़कर केवल आत्मद्रव्य, आत्मगुण और आत्मपर्याय का ही उपयोग रखे तो चूंकि वही ज्ञाता, वही ज्ञेय और वही ज्ञान भी बन जाता है तो वहाँ स्वसम्वेदन प्रकट होता है और स्वसम्वेदन में यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह मैं आत्मा हूं, ऐसे आत्मपदार्थ के उपयोग में चित्त की एकाग्रता होती है।

चित्त की एकाग्रता में प्रगति—चित्त की एकाग्रता होने से इन्द्रिय का दमन होता है। जो लोग बेकार रहते हैं, जिन्हें कोई काम काज नहीं है, न कोई अपूर्व-अपूर्व कार्य करने की धुन है ऐसे निठल्ले पुरुष इन्द्रिय के विषयो का शिकार बने रहते हैं। करे क्या वे? उपयोग यदि शुद्ध तत्त्व में नहीं रहता है तो यह बाहर के विषय में अधिक बढ़ेगा। इन्द्रिय का दमन परमार्थ तत्त्व की एकाग्रता बिना वास्तविक पद्धति मे नहीं हो सकता है। जब इन्द्रिय का दमन न होगा, चित्त की एकाग्रता न होगी तो मन विक्षिप्त रहा, यत्र तत्र डोलने वाला रहा तो मन की इस विक्षिप्तता के होने पर स्वानुभव हो नहीं सकता। अतः आत्मा के अनुभव के लिए श्रुतज्ञान का आश्रय लेना परम आवश्यक है । वस्तु के सही स्वरूप का परिज्ञान करना अत्यन्त आवश्यक है।

शुभ उपयोगो का प्रगति में सहयोग—भैया ! पहिले श्रुतज्ञान का आलम्बन करके अर्थात् वस्तुस्वरूप की विद्या सीखकर आत्मा को जाने। पीछे उस आत्मा के जानने की निरन्तरता से आत्मा का अनुभव करे। जो पुरुष आत्मा का द्रव्यरूप से, गुण रूप से, पर्यायरूप से ज्ञान नहीं करते हैं वे आत्मस्वभाव को नहीं जान समझते हैं। इस कारण ये शुभोपयोग हमारे पूर्वापर अथवा एक साथ चलते रहना चाहिए। इन्द्रिय का दमन करे, पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त रहे और क्रोधादिक कषायों को शान्त करे, श्रुतज्ञान का, तत्त्व ज्ञान का अभ्यास बनाए रहे, इन सब पुरुषार्थों के प्रताप से एक परम आनन्द की छटा प्रकट होगी। ज्ञानस्वरूप यह मैं आत्मा अपने आपके द्वारा ज्ञान में आऊँगा। आत्मा की इस तरह की अभेद उपासना से अनुभूति होती है।

आत्मकल्याण के लिये आत्माश्रय की साधना—आत्मा का परिज्ञान आत्मा के ही द्वारा होता है। ऐसा निर्णय करके हे कल्याणार्थी पुरूषों, आत्मज्ञान के लिए अन्य चिन्ताओं को त्याग दो और आत्मज्ञान में ही सत्य सहज परम आनन्द है ऐसा जानकर उस शुद्ध उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति के लिए परपदार्थों की चिन्ता का त्याग कर दो। ज्ञान और आनन्द आत्मा में सहज स्वयं ही प्रकट होता है। जितना हम ज्ञान और आनन्द के विकास के लिए परपदार्थों का आश्रय लेते हैं और ऐसी दृष्टि बनाते हैं कि मुझे अमुक पदार्थ से ही ज्ञान हुआ है, अमुक पदार्थ से ही आनन्द मिला है, इस विकल्प में तो ज्ञान और आनन्द का घात हो रहा है। एक प्रबल साहस बनाएं और किसी क्षण समस्त परपदार्थों का विकल्प छोड़कर परम विश्राम से अपने आपका सहज प्रतिभास हो तो ऐसे आत्मानुभव मे जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द में ही यह सामर्थ्य है कि भव-भव के बाँधे हुए कर्मजालों को यह दूर कर सकता है। यों आत्मा की उपासना का अभेदरूप उपाय बताया गया है।

श्लोक 23

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।

ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः।।२३।।

ज्ञान और अज्ञान के आश्रय का परिणाम—अज्ञानी की उपासना से अज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञानी की उपासना से ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योंकि संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो है वह तो दे सकेगा। अज्ञानी मोही पुरुषो की संगति करके तो आकुलता, विह्वलता, ममता, मूढ़ता आदि ये सब ऐब प्राप्त होगे और कोई ज्ञानी की संगति करे तो उसमें शुद्ध बुद्धि, शुद्ध आचार विचार और शान्ति प्रकट होगी। परमार्थ से कोई पुरूष किसी दूसरे का आश्रय नहीं करता है। प्रत्येक प्राणी अपने आपका ही सहारा लिया करता है। जिस प्राणी का चित्त पर की ओर है तो उसके उपयोग में केवल परपदार्थ विषय है क्योंकि पर से सहारा लेने की कल्पना की। परन्तु कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का सहारा पा ही नहीं सकता है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूप है।

ज्ञान और अज्ञान के आश्रय का विवरण—जो पुरूष ज्ञानियों की संगति करता है उसके उपचार से तो ज्ञानियों की संगति की, पर परमार्थ से उसने अपने ज्ञान की संगति की। अपने ज्ञान का ही सहारा लिया, यह बात है। अपने को ज्ञानस्वरूप में देखे तो ज्ञान मिलेगा और अपने को अज्ञानस्वरूप निरखें तो अज्ञान मिलेगा। मैं मनुष्य हूँ, कुटुम्ब वाला हूँ, धनवाला हूँ, इज्जत वाला हूँ, साधु हूँ, गृहस्थ हूँ आदि रूप से निरखे तो अज्ञान रूप में देखा क्योंकि जितनी बातें अभी कही गयी है उनमें एक भी चीज इस आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो आत्मा का स्वरूप नहीं है उस रूप अपने आपको देखे तो उससे अज्ञान ही प्रकट होगा। यदि अपने को शुद्ध ज्ञान

ज्योतिमात्र निरखे, इसका किसी अन्य से सम्बंध नहीं है, यह मात्र केवल निज ज्ञानस्वरूप है। सबसे न्यारा स्वतंत्र, परिपूर्ण जैसा स्वयं है तैसा अपने को देखें तो उससे ज्ञान प्रकट होगा।

कल्पनाजाल का क्लेश—भैया ! जितने भी जीव को समागम मिले हैं वे समस्त समागम मिटेंगे, झक मारकर छोड़ने पड़ेंगे, लेकिन पदार्थ पहिले से ही छूटे हुए है। मैं सबसे न्यारा हूं, ऐसा ज्ञान का पुरूषार्थ करे और ममता का परिहार कर दे तो उसका भला है। और कोई न कर सके ऐसा तो संसार में वही रुलेगा। जीव पर संकट केवल मोह का है दूसरा कोई संकट नहीं है लेकिन ऐसा ही संस्कार बना है कि जिसके कारण जितना जो कुछ मिला है और जितना मिलने की आशा है उसमें कोई बाधा पड़ जाय तो बड़ा क्लेश मानता है। किसी व्यापार में यह ध्यान हो गया कि इसमें तो इतने का टोटा हो गया तो यह पछतावा करता है। सोचता है कि इसे कल ही बेच देते तो ठीक था। अब मैं इतने घाटे में हो गया हूं। अरे चीज वही की वही घर में है, घाटा तो कल्पना का है।

उदारता का अवसर—कल्पना करो कि जितनी जिसके पास जायदाद है उससे चौथाई ही होती तो क्या वे गुजारा न करते? मिल गयी है अब सुकृत के उदयवश तो उसे यो जानो कि यह उपकार के लिए मिली है। भोग विषय मौज के लिए नहीं है। उस सम्पत्ति का उपयोग अपने विषयों के खातिर न करे। अपना जीवन तो वैसे ही रखे, जैसे कि अन्य गरीब लोग रखते हैं और दिल में उदारता बर्ते तो उसे कभी बेचैनी का प्रसंग न आयगा। पहिले लोग ऐसे ही उदार होते थे। महिलाओं में भी किसी घर में यदि कोई बहू विधवा हो जाय तो उस घर की जेठानी, सास, बड़े लोग सभी सात्त्विक वृत्ति से रहते थे। वे महिलाएँ सोचती थी कि यदि हम लोग श्रृंगार करेंगी तो बहू के दिल में धक्का लगेगा। इतनी उदारता उनमें प्रकृत्या होती थी। और भी इसी प्रकार की गृह सम्बंधी उदारताएँ होती थी।

उदारता की एक घटित पद्धति—पूर्वजों में सामाजिक उदारताएँ भी अपूर्व ढंग की थी। समाज का कोई काम बनाना हो तो अपना अपयश करके भी उस काम को बनाने की धुन रखते थे। एक किसी नगर का जिक्र है कि पंचायत के प्रमुख ने एक नियम बना दिया कि मंदिर में कोई रेशम की साड़ी पहिनकर न आये। तो यह बात चले कैसे? जो रिवाज चला आ रहा था वह मिटे कैसे? उसमें कोई क्रांति वाली घटना जब तक सामने न आये तो असर नहीं पड़ता, सो उस प्रमुख ने अपनी स्त्री से कह दिया कि कल तुम रेशम की साड़ी पहिनकर खूब सज-धजकर जाना मंदिर। वह गयी मंदिर, और फिर प्रमुख ने उसे ऐसा ललकारा कि यह कौन डाइन, वेश्या इस मंदिर में रेशम की साड़ी पहिनकर आयी? ऐसे शब्द सुनकर मालिन बोली, हजूर आपके ही घर से है ऐसा न कहिये। तब प्रमुख ने कहा हम कुछ नहीं जानते, ५०) रु. जुर्माना। तब से फिर समाज पर प्रभाव पड़ा। वह रेशम की साड़ी पहिनकर आने वाली बात बंद हो गयी। तो उदारता की बात पहिले इस प्रकार विचित्र पद्धति की थी।

पारमार्थिक उदारता—अपने को ज्ञानस्वरूप समझना, अकिञ्चन मानना, केवल स्वरूपसत्ता मात्र अपने को निरखना एक भी पैसे का अपने को धनी न समझना, एक अणु भी मेरा नहीं है ऐसी अपनी बुद्धि बनाना इससे बढ़कर उदारता क्या होगी? सम्यग्ज्ञान में सर्वोत्कृष्ट उदारता भरी हुई है, मगर कहने सुनने मात्र का ही सम्यग्ज्ञान है। सर्व प्रभावों से रहित ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ, अकेला हूं, सबसे न्यारा हूँ, मेरे करने से किसी दूसरे का कुछ होता नहीं, अत्यन्त स्वतंत्र मैं आत्मा हूँ—ऐसा केवल अपने अद्वैत आत्मा का अनुराग हो तो वह पुरुष वास्तव में अमीर है, सुखी है, पवित्र है, विजयी है, और जो बाहरी पदार्थों में आसक्ति लगाए हुए है, कितना ही धन का खर्च है, कितने ही झंझट भी सह रहे हैं वे दीन है। मृत्यु के दिन निकट आ रहे हैं प्रथम तो किसी की भी मृत्यु का पता नहीं है, पर आयु अधिक हो जाय तो उसके बाद और क्या होगा? बचपन के बाद जवानी और जवानी के बाद बुढ़ापा और बुढ़ापा के बाद क्या फिर जवानी आयगी? नहीं। मरण होगा, फिर नया जन्म होगा। तो यह समय प्रवाह से बह रहा है और हम ममता में कुछ अन्तर न डाले, ढील न करे तो सोच लीजिये क्या गति होगी?

धर्म पालन का अन्तरंग आशय से सम्बन्ध—हमारा धर्म पालन ममता के पोषण के लिए ही हो, हम दर्शन करे तो मेरा सब कुछ मौज बना रहे, इसके लिए हो, कुछ भी हम धर्म पालन करे, विधान करे, पूजन करे, यज्ञ करे, समारोह करे, कुटुम्ब परिवार की मौज के लिए करे, कोई रोग न आए, कोई उपद्रव न आये, वही धन नष्ट न हो जाय, टोटा न पड़ जाय, धन बढ़े मुकदमें मे विजय हो, इन सब आशाओं को लेकर जहाँ धर्मपालन हो रहा हो वहाँ क्या वह धर्म है? वह धर्म नहीं है। जो धर्म के नाम पर आत्मा और परमात्मा के निकट भी नहीं जाते हैं वे भी तो आज लखपति करोड़पति बने हुए है। यह धन का मिलना वर्तमान में मंदिर जाने, हाथ जोड़ने के आधीन नहीं है, यह तो पूर्व समय में जो त्यागवृत्ति की, उदारता की, दान किया, पुण्य किया, सेवाएँ की, उनका फल है जो आज पा रहे हैं। धर्म-पालन परमार्थतः यदि हो जाय तो धर्म से अवश्य ही शान्ति और संतोष मिलेगा।

संगतिविवेक—भैया ! अपने आपको जो अज्ञानरूप से मान रहा है, मैं क्रोधी हूं, मानी हूं, अमुक पोजीशन का हूँ, अमुक बिरादरी का हूँ, अमुक सम्प्रदाय का हूँ, ऐसी प्रतिष्ठा वाला हूँ, इस प्रकार इन सब रूपों में अपने आपको जो निहारता है वह अज्ञानी है। जो अज्ञानी की सेवा करेगा उसके अज्ञान ही बढ़ेगा और जो ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व की सेवा करेगा उसके ज्ञान बढ़ेगा। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि धनी की सेवा कोई करता है तो धन मिल जायगा, विद्वान की कोई सेवा करता है तो विद्या मिल जायगी। इसी प्रकार कोई अज्ञानी गुरुओं की सेवा करता है तो उसे अज्ञान मिलेगा। अफीम, भांग, चरस फूंकने वाले साधुओं के चरणों में भी बहुत से भंगेड़ी, गंजेड़ी पड़े रहा करते हैं, और उनकी सेवा यही है कि चिलम भर लावो, फूँक लगावो, भगवान का नाम लेकर अब अफीम चढ़ावो। दूसरों को उनसे मिल क्या जाता है? क्या वहाँ किसी तत्त्व के दर्शन हो पाते है? अज्ञानियों

की संगति में अज्ञान ही मिलेगा और ज्ञानी साधु संतो की सेवा में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी। इस कारण जो पुरूष अपना कल्याण चाहते हैं उनका यह कर्तव्य है कि जो विवेकी है, ज्ञानी है, जो सांसारिक माया से परे है, ज्ञानध्यान तप में लवलीन है, जिन्हें वस्तुस्वरूप का भला बोध है जिनमें परपदार्थों की परिणति से रागद्वेष उत्पन्न नहीं होते, जो सबको समान दृष्टि से निरखते हैं ऐसे विवेकी तप से ज्ञानी आत्माओं की उपासना करे, पूजा सत्कार, विनय करे और उनकी उपासना करके ज्ञान का लाभ ले।

ज्ञान का तात्त्विक फल—परमार्थतः तो यह आत्मा ही स्वयं शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञान की उपासना से ज्ञान का ही फल मिला करता है। जो ज्ञान अनश्वर है, सदा रहने वाला हे ऐसे ज्ञान की सेवा से फल ज्ञान का ही मिलता है। लेकिन यह मोह का बड़ा विचित्र संताप है कि मोहीजन इस ज्ञान की उपासना से भी कुछ और चीज ढूंढना चाहते हैं। ज्ञानपुंज परमात्मा की पूजा से ज्ञान का ही प्रकाश मिलेगा किन्तु यह मोही प्राणी ज्ञानपुंज भगवान की पूजा मे भी अन्य कुछ बात ढूंढ़ना चाहता है। यह मोह का संताप है। ज्ञान की उपासना से तो उत्कृष्ट अविनाशी सम्यग्ज्ञान की ही प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञान प्राप्ति के लिए ज्ञानी की उपासना करे। ज्ञानी की उपासना करते हुए में भी जिसके मोह की पुट लगी रहती है वह क्या अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकेगा? हाँ विवेकी के जो ज्ञानी पुरुषों का गुणानुराग है वह गुणों का अनुराग है, मोह का अनुराग नहीं है। वह तो आदर के योग्य है, परन्तु धन वैभव की उपासना तो केवल मोहवश ही की जाती है वह अज्ञानरूप है।

ज्ञानी व अज्ञानी के संग से लाभ हानि का कारण—अज्ञानी की उपासना से संसार का संकट दूर न होगा, इसलिए ज्ञानियों की तो संगति करें और अज्ञानियों की संगति से दूर हो। कोई अज्ञानी पुरुष चमत्कार वाला भी हो, लौकिक इज्जत भी बहुत बढ़ गई हो, फिर भी अज्ञान का आश्रय लेना विपदा के लिए ही है। आज कुछ चाहे भले ही रुच रहा हो, लेकिन अज्ञानी का संग ऐसा खोटा सस्कार बना देगा कि वह अज्ञान मार्ग में लग जायगा। ज्ञानी के संग में यद्यपि ज्ञानी की और से कुछ आकर्षण नहीं रहता क्योंकि ज्ञानी निर्वाञ्छक है, अंतस्तत्व का ज्ञाता है, भोगों से उदासीन हे, उसे क्या पड़ी है जो दूसरों को वश में करे या दूसरों का आकर्षण हो ऐसा कोई विधि रागपूर्वक करे। ज्ञानी पुरुष के प्रति जिनका आकर्षण है वे पुरुष स्वयं शुद्ध है। जो स्वयं अपवित्र होंगे वे पुरुष ज्ञानियो की संगति में कैसे पहुँचेंगे? जो स्वयं पवित्र होंगे सो ही ज्ञानी की संगति में पहुंचेंगे। अपवित्र पापी व्यसनी पुरुषों को ज्ञानी का समागम दुर्लभ है।

अज्ञानी के धर्मसमागम की अरूचि का भाव—एक बात प्रसिद्ध है कि भगवान के समवशरण में मिथ्यादृष्टि जीव नहीं पहुँचता उसका भाव यही है कि जो गृहीत मिथ्यादृष्टि है, अपने मिथ्यात्व के मद में उद्दण्ड है उनके यह भाव ही नहीं होता है कि वे प्रभु के समवशरण में पहुँचें। और यदि कदाचित् उद्दण्डता मचाने के ध्येय से समवशरण में जाते हैं तो वहाँ के द्वारपाल रक्षक देव उन्हें पीटकर निकाल देते हैं। सर्वप्रथम तो यह बात है कि उनकें यह भाव ही नहीं होता कि हम धर्मस्थानों में पहुंचे। तपस्वी ऋषि संतो की यह अनुभवपूर्ण वाणी जो ग्रन्थों

में निबद्ध है उसको सुनने का पापी जीवों का भाव और अनुराग ही नहीं हो पाता क्योंकि वे पापवासना में उपयोग दे या धर्म में। जिसके पास जो है वह उसका ही स्वाद लेता है। अज्ञानी जन अज्ञान का ही स्वाद लिया करते हैं।

ज्ञान में तृप्ति—ज्ञानी जन ज्ञानामृत के पान से तृप्त रहा करते हैं क्योंकि ज्ञानी पुरुषों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करने का राग लगा है। यह अभिलाषा उनकी जग रही है। मैं ज्ञानार्जन करूँ और शुद्ध ज्ञान में रत रहूँ। ऐसी इच्छा होती है और साथ ही यह जानते हैं कि इसकी पूर्ति करके इस इच्छा का भी विनाश करूँ। इस इच्छा को वे उपादेय नहीं मानते हैं, पर चरित्र मोह का उदय है ऐसी इच्छा हुआ ही करती है। लेकिन यह इच्छा अच्छे भाव को पोषने वाली है।

कर्तव्यस्मरण—ज्ञानी अपने आत्महित की साधना में जागरूक रहता है। जो आत्महित चाहने वाले पुरुष है उनका कर्तव्य है कि ये ज्ञानी, विवेकी, अन्तरात्मा, सम्यग्दृष्टि, संसार शरीर और भोगों से विरक्त संतों की उपासना करें, खूब दृष्टि पसारकर निहार लो। जो पुरुष ठलुवों की गोष्ठी में रहा करते हैं वे कौनसा लाभ लूट लेते है? रात दिन की चर्या उनकी जो हो रही है उस पर ही ध्यान देकर देख लो। ये जीवन के क्षण निकल जायेंगे। जो निकल गये वे फिर वापिस तो आते नहीं। निकल गए सो निकल गए पीछे पछतावा होता है कि मेरी जिन्दगी यों ही निकल गयी। यदि मैं ज्ञानार्जन धर्मपालन में अपना समय लगाता तो मेरा जीवन सफल था। ऐसे पछतावा का मौका ही क्यों दिया जाय? क्यों न अपना पुरुषार्थ अभी से ही धर्मपालन और ज्ञानार्जन में रखा जाए? जो शुद्ध तत्त्व है उसकी उपासना से आत्मा को लाभ होता है। जो अशुद्ध अपवित्र आत्मा है, अशुद्ध भाव है, परभाव है उनकी उपासना से आत्मा का विनाश होता है, बरबादी होती है।

परमार्थ पुरुषार्थ—भैया सब दृश्य रहना तो कुछ है ही नहीं। यदि भली प्रकार से पहले से ही अक्ल त्यागकर सर्व से विविक्त कमल की भाँति अपने आत्मा को निरखें तो इसमें गुणों का विकास होगा और कर्मबन्धन शिथिल हो जायेंगे। इसके लिए ज्ञानबल और साहस की आवश्यकता है। यह अपनी ही चर्चा है, अपनी ही बात है, अपने में ही करना है, अपने को ही लाभ है। मानो आज मनुष्य न हुए होते, जिसे हम कीड़ा मकौड़ा निरख रहे हैं ऐसी ही वृत्ति होती, क्या हुई न थी कभी। आज कीड़ा मकौड़ा ही होते तो कहाँ यह ठाठ, कहाँ ये दो चार मंजिले मकान, कहाँ ये धन वैभव पास में होते जिनमें मोह करके आज बेचैनी मानी जा रही है? इस वैभव से यह आत्मा अब भी अधूरा है, केवल अपने ज्ञान और कल्पना में बसा हुआ है। हे आत्मन् सुन ! तू ऐसे सर्व विशुद्ध अपने आत्मा के स्वरूप का आश्रय ले तो वहाँ संकट नहीं रह सकता है। यो अपने ज्ञानका आश्रय ले। जो अपना स्वभाव है, स्वरूप है ऐसे ज्ञानानंद स्वरूप की उपासना करे। मैं सबसे विविक्त ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा विश्वास बनाये तो संसार के समस्त संकट समाप्त हो सकते हैं।

श्लोक 24

परीषहाद्यविज्ञानानादास्रवस्य निरोधिनी।

जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा।।२४।।

अध्यात्मयोग में उपसर्गादिक का अवेदन—जब योगी पुरुष अध्यात्मयोग में लीन हो जात है तो उस पर मनुष्य तिर्यञ्च आदिक किन्ही जीवों के द्वारा कोई उपसर्ग आये तो उस उपसर्ग का भी पता नहीं रहता है। अध्यात्मयोग में लीन होने पर ज्ञानियों को न तो कष्ट का पता रहता है, न व्याधियों का, न किन्ही उपसर्गों का पता रहता है। वहाँ तो स्वरूप में निमग्न अध्यात्मयोगी के समस्त कर्मों का आस्रव निरोध करने वाली निर्जरा शीघ्र हो जाती है।

क्लेशानुभव का कारण—किसी को क्लेश तब तक अनुभव में आता है जब तक उसका चित्त क्लेशरहित निष्कषाय आत्मस्वरूप में लीन नहीं होता है। जिसका चित्त बाह्य स्त्री पुरुषों के व्यामोह में है उसे अनेक कष्ट लगेंगे। यह मोही जीव जिनके कारण क्लेश भोगता जाता उनमें ही अपना मोह बनाये रहता है। जिसने आत्मा के स्वरूप से चिगकर बाह्य पदार्थों में अपने चित्त को फंसाया कि उसे अनेक कष्टों का अनुभव होगा ही।

धर्मसाधन का उद्यम—धर्म की यह साधना बहुत बड़ी साधना है। सामायिक करते समय या अन्य किसी समय अपने उपयोग को ऐसा शान्त विश्रांत बनाये कि तत्त्वज्ञान के बल से समस्त बाह्य पदार्थों को आत्मा से भिन्न जानकर और निज ज्ञानानन्दस्वरूप को निरखकर समस्त बाह्य पदार्थों को उपयोग में न आने दे ऐसी हिम्मत तो अवश्य बनायें कभी। अनेक काम रोज किए जा रहे हैं। यदि ५ मिनट को अपना चित्त अपनी अपूर्व दुनिया में ले जावें तो कौनसा घाटा पड़ता है? न आपका यह घर गिरा जाता है, न किसी का वियोग हुआ जाता है। सबका सब वहीं का वहीं पड़ा है। दो चार मिनट को यदि निर्मोहता का यत्न किया जाय तो कुछ हानि होती है क्या? किसी भी क्षण अपने आपमें बसे हुए परमात्मस्वरूप का अनुभव हो जाए और सत्य आनन्द प्राप्त हो जाय तो यह जीव अनन्तकाल तक के लिए संकटों से छुटकारा पाने का उपाय कर लेगा।

मोही की आसक्ति—भैया ! कितने ही भवों में परिवार मिला, पर उस परिवार से कुछ पूरा पड़ा है क्या? कितने भव पाये जिनमें लखपति, करोडपति, राजा महाराजा नहीं हुए, पर उन वैभवों से भी कुछ पूरा पड़ा है क्या? किन्तु आसक्ति इतनी लगाए है कि जिससे इस दुर्लभ नरजीवन का भी कुछ सदुपयोग नहीं किया जा सकता। भूख प्यास की वेदना से अथवा किसी के द्वारा कभी उपसर्ग, परीषह, कष्ट आये तो उससे यह मोही प्राणी अधीर हो बैठता है। कभी-कभी तो उन वेदनाओं की स्मृति भी इसे बेचैन कर डालती है। ये सब संकट तब तक है जब तक अपने स्वरूप के भीतर बाहर में जो उपयोग लगाया है इस उपयोग को निराकुल निर्द्वन्द

ज्ञानानन्दस्वरूप में न लग सके। अपने को अकेले असहाय स्वतंत्र मानकर शुद्ध परिणमन बनाओ तो सारे संकट समाप्त होते हैं।

ज्ञानविशुद्धि में संकट का अभाव—संकट है कहाँ? किस जगह लगा है संकट? किसी को मान लिया कि यह मेरा है और अन्य जीवों के प्रति यह बुद्धि कर ली है कि ये कोई मरे नहीं है बस इस कुबुद्धिवश उनकी परिणतियों को देखकर संकट मान लिया जाता है। कौन जीव हमारा है? हमारा तो हम तब जाने जब हमारे अपरिचित पुरुष भी देखकर बता दे कि हाँ यह इनका है। यह तो मोही लोगों की व्यवस्था है। किसका कौन है? अज्ञान से बढ़कर कोई विपदा नहीं है। चाहे करना कुछ पड़े किन्तु ज्ञान तो सही करना चाहिए। ज्ञान बिगड़ गया तो फिर कोई सहाय नहीं हो सकता।

उन्मत्तदशा—जो लोग पागल दिमाग के हो जाते हैं, सड़कों पर घूमते हे, बड़े घरके भी बेटे क्यों न हो, बड़े घनी के भी लड़के क्यों न हो, जब वे पागल हो जाते हैं, बेकाबू हो जाते हैं तो घर के लोग क्या उसे संभाल सकते हैं, फिर उनकी कौन परवाह करता है, उनको आराम देने की कोई फिर सोचता है क्या? वे तो आफत में दिखते हैं। कही बुद्धि खराब हो गयी, पागलपन आ गया है तो फिर कोई उसके संभालने वाला नहीं है। हम आप इन मोहियों का दिमाग क्या कुछ कम बिगड़ा हुआ है? क्या कुछ कम पागलपन छाया है? समस्त अनन्त जीवों में से छाँटकर किन्ही दो चार जीवों को जो आज कल्पित अपने घर में है उन्हें मान लिया कि ये मेरे है और बाकी संसार के सभी जीवों को मान लिया कि ये गैर है क्या यह कम पागलपन है? ये सब अनाप-सनाप अट्ट-सट्ट बेकायदे के सम्बन्ध मान लिए जाते हैं। कोई जीव के नाते से कुछ कायदा भी इसमें किया जा रहा है क्या? अमुक का अमुक जीव कुछ लगता है ऐसी मान्यता से कुछ फायदा भी है क्या? कोई किसी से नाता नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं।

स्वार्थमय लोकसम्बन्ध—लौकिक दृष्टि से भी देखो तो कोई पुरुष बूढ़ा हो जाय किसी काम में नहीं आ सकता है, ऐसी स्थिति हो जाय तो उसकी कौन परवाह करता है? यदि उसके पास कुछ भी धन नहीं है तो कोई भी परवाह नहीं करता है और उसके नाम में या उसके पास कुछ धन है तो लोग मरने की माला फेरते हैं, जल्दी कब मरे। ये सब भीतरी बातें है। अनुभव से विचारो, कौन किसका सहारा है, जब तक कषायों से कषाय मिलीजुली हुई है और एक दूसरे के स्वार्थ में कुछ साधक रहता है, किसी के कुछ काम के लायक रहता है तब तक ही यह लौकिक सम्बन्ध रहता है अन्यथा नहीं।

कथंचित् उपादेय सम्बन्ध—भैया ! यहाँ उपादेय सम्बंध माना जा सकता है तो गुरु और शिष्य का सम्बंध यह सम्बन्ध कुछ ढंग का भी है, विधिविधान का भी है। पर गुरू शिष्य के सम्बन्ध के अलावा अन्य जितने सम्बंध है वे सब नाजुक और छलपूर्ण सम्बंध है, चाहे साला बहनोई हो, चाहे मामा भांजा हो, चाहे पिता-पुत्र हो, चाहे

भाई-भाई हो, कोई भी सम्बंध हो वे सब सम्बंध अशुद्ध और कलुषित भावना सहित मिलेंगे, केवल एक गुरू शिष्य का ही सम्बंध जगतके सम्बंध में पवित्र सम्बंध हो सकता है। कोई पुरुष आजकल के मास्टर और स्टूडेन्ट का परस्पर बर्ताव देखकर प्रश्न कर सकता है कि गुरू शिष्य का कहाँ रहा पवित्र सम्बंध? शिष्य यदि परीक्षा में नकल कर रहा है और मास्टर उसको टोंक दे या उसकी नकल में बाधा डाले तो स्कूल से बाहर निकलने के बाद फिर मास्टर की ठुकाई पिटाई भली प्रकार कर दी जाती है। क्या पवित्र सम्बन्ध रहा? उसका समाधान यह है कि वहाँ न कोई गुरु है न कोई शिष्य है गुरु बन सकना और शिष्य बन सकना बहुत कठिन काम है। न हर एक कोई गुरु हो सकता है और न हर एक कोई शिष्य हो सकता है। गुरु शिष्य का इतना पवित्र सम्बन्ध है कि जिसके आधार से संसार के ये समस्त संकट सदा के लिए टल सकते हैं, सम्यक्त्व की भावना, सम्यक्त्व का प्रकाश उदित हो सकता है। बाकी और समस्त सम्बंध केवल स्वार्थ के भरे हुए सम्बन्ध है।

बहिर्मुखी दृष्टि में विपदा—इन बाह्य पदार्थों में, इन परिजन और मित्रजनों में जब चित्त रहता है तो यह जीव कष्ट का अनुभव करने वाला बन जाता है। खूब बढ़िया भी खाने को मिले तो भी यह अनुभव में चलता हे कि अब फिर भूख लगी। लोलुप गृहस्थ जन तीन बार खाये फिर भी बार-बार क्षुधा की वेदना अनुभूत होती है। ऐसे ही चाहे सर्व प्रकार के समागम उचित रहे, पैसा भी खूब आ रहा है, इज्जत भी चल रही है तब भी कुछ न कुछ विकल्प बनाकर अपना कष्ट अपनी विपदा समझने लगते हैं, यह सब बहिर्मुखी दृष्टि होने के कारण विपदा आती है। एक चैतन्य चिन्तामणि को प्राप्त कर ले उपयोग द्वारा फिर कोई संकट नहीं रह सकता है।

अन्तर्मुखी दृष्टि करो विपदा टालो—देखो। गंगा यमुना नदियों में जलचर जीव अनेक होते ही है। कोई कछुवा पानी के ऊपर सिर उठाकर तैरता हुआ जाय तो उसकी चोंच को पकड़ने के लिए दसों पक्षी झपटते हैं, चारों और से परेशान करते हैं। जब तक वह कछुवा अपनी चोंच बाहर में निकाले हैं तब तक उसकी कुशल नहीं है। अनेक सताने वाले हैं और जब वह अपनी चोंच को पानी में डुबो लेता है, भीतर ही भीतर तैरता रहता है, मौज करता है उसे फिर कोई संकट नहीं रहता है। ऐसे ही यह आत्मस्वरूप अपना निज घर है। इससे बाहर अपना उपयोग निकला कि सर्व कल्पना जालों के संकट इस पर छा जाते हैं। उन समस्त संकटों के दूर करनेका उपाय मात्र इतना है कि अपने उपयोग को अपने आत्मस्वरूप में लगा ले।

आत्मरक्षा का विवेक—बाह्य परिस्थितियों में जिसका उपयोग लगा है वह हर स्थिति में कष्ट अनुभव किया करता है। किन्तु है वे सब स्थितियाँ कष्ट न अनुभव करने के योग्य। घर में कुटुम्ब ज्यादा बढ़ गया तो कष्ट अनुभव किया जाता है। अरे बढ़ गया है तो बढ़ जाने दो, सबके अपना-अपना भाग्य है, वे लड़ते हैं तो लड़ जाने दो, गिरते हैं तो गिर जाने दो, सीधे चलते हैं तो सीधे चलने दो, तुम योग्य शिक्षा दो तुम्हारी शिक्षा के अनुकूल वे चलते हैं तो उनका भला है, नहीं चलते हैं तो तुम ममता करके अपने जीवन का धार्मिक श्रृंगार क्यों खोते हो?

परिस्थितियों में हितविधि का अन्वेषण—भैया ! अन्तर में या बाहर में परमार्थतः इस जीव को कहाँ कष्ट है, परन्तु दृष्टि बाहर में फंसायी तो वहाँ कष्ट ही है। परिजन अधिक न हो, अकेले हो तो यह जीव अपने में कष्ट मानता है कि मैं अकेला हूं, दुनिया के लोग किस तरह रहते है? अरे अकेले रह गये तो यह बडे सौभाग्य की बात है, अकेले रह जाना हर एक को नसीब नहीं है यह संसार कीचड़ है। यह समागम एक बेढब वन है अपना यथार्थ अनुभूत हो जाए और स्वतः अकेलापन आ जाय तो यह बड़े अच्छे होनहार की बात है धर्मपालन होता है तो अकेले होता है, अनुभव होता है तो अकेले से होता है। मोक्षमार्ग मिले तो अकेले से होता है, मोक्ष प्राप्त होता है तो अकेले से होता है। कौनसी बुराई आयी अकेले रह जाने में? यह भी स्थिति अच्छे के लिए आती है, पर उसका सदुपयोग करे, लाभ उठाये तब ना। धन बहुत हो गया है तो बड़ी किल्लत हो गयी। इतनी हो गयी है कि सम्भाले भी नहीं सम्भलती है अनेक द्वारों से यह धन बरबाद होने लग रहा है, सम्भालते ही नहीं बनता है। बड़ा दुःखी होता है जब सुनते हे कि वहाँ इतने का टोटा हो गया, इतना खर्च हो गया तो बड़े चिन्तित होते हैं। अरे चिन्ता की क्या बात है? बिगड़ गया तो बिगड़ने दो, घट गया तो घटने दो। कहां घट गया? जो पदार्थ है वह तो नहीं गुम गया, मिट क्या गया? जहां होगा वही चैन से । तुम्हारा क्या बिगड़ गया? ममता छोड़ो, सारे संकट मिट गए।

ममता का अनौचित्य—भैया ! जितने भी संकट है वे सब ममता के कारण होते हैं। काहे के लिए ममता करते हो? अपने को लाभ तो कुछ है नहीं। अपने लाभ के संदर्भ में तो ममता की जरूरत ही नहीं है। जो लोग यहां के समागम में ममत्व रखते हैं वे इसलिए रखते हैं कि दुनिया के मनुष्य हमको कुछ अच्छा समझे, अच्छा कह दे। अच्छा तुम्हीं निर्णय दो कि ये सब दुनिया के लोग जिनमें तुम अच्छा कहलवाना चाहते हो ये सब ज्ञानी है या अज्ञानी? मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि? खुद कर्मों के चक्कर में फंसे हुए है या देवता है सो निर्णय कर लो। मूढ़ है, पर्यायबुद्धि लगी है, अज्ञानी है, पापकलंक से भरे हुए है। अच्छा इन मूढ़ों ने यदि तुम्हें अच्छा कह दिया तो तुम क्या कहलावोगे? मूढ़ों के सिरताज। तो इसका अर्थ हुआ कि हम मूढ़ों के राजा है। जैसे कोई लोग कहने लगते हैं कि हम बदमाशों के बादशाह है, तो इसका अर्थ क्या हुआ? सबसे ऊँचे दर्जे का बदमाश। इस तरह हम इस अज्ञानी जगत में कुछ अपने को अच्छा कहलवाना चाहते हैं और इन अज्ञानी लोगों ने कुछ अच्छा कह दिया और उसमें ही हम खुश हो गए तो अर्थ यह हुआ कि हम मूढों के सिरताज बनना चाहते हैं। सब अपने आपमें सोच लो। सभी तो मोही जगत है। इससे बुरा रंच भी न मानियेगा, क्योंकि यह सब तो विरक्त होने की भावना से कहा जा रहा है।

योगी का उन्नयन—क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग आदिका कष्ट तब बहुत अधिक मालूम होने लगता है जब यह उपयोग आत्मस्वरूप से चिगकर बाह्य पदार्थों में लग जाता है। जब यह जीव बाह्यपदार्थों की वासना तज देता है, बाह्यपदार्थों के राग से विरक्त हो जाता है तो भूख प्यास, परीषह रोग आदि वेदना का अनुभव नहीं होता।

वह तो अब स्वरूप में मग्न है, आनन्द का अपूर्व मधुर रसपान कर रहा है, विकार भावो से अत्यन्त दूर रह रहा है। ऐसे आत्मा के आचरण में रहने वाले अध्यात्मयोग के अनन्तगुणी निर्जरा और कर्मों का क्षय चलता रहता है, क्योंकि उसकी चित्तवृत्ति का भली प्रकार निरोध हो गया है। अब यह अपने आत्मस्वरूप की और झुका हुआ है। जिसको अपने अंतस्तत्व की दृष्टि है उस योगी के पुण्य और पाप निष्फल होते हुए स्वयं गल जाते हैं। उस योगी का निर्वाण होता है फिर कभी भी ये कर्म पनप नहीं पाते हैं। जो योगी तद्भवमोक्षगामी नहीं है, जिसके संहनन उत्कृष्ट नहीं है, किन्तु ध्यान का अभ्यास बनाए है, आत्मतत्त्व के चिन्तन में अपना उपयोग लगाये हैं उसके कर्मों का सम्वर और कर्मों की निर्जरा होती है।

ज्ञान प्रताप—आत्मा और अनात्मा का जब भेदविज्ञान प्रकट होता है तो उस भेदविज्ञान में जो अपूर्व आनन्द बरसता है उस आनन्द मग्न योगी पुरुष बड़े कठिन घोर तपश्चरण को भी करते हुए रंच भी खेद नहीं मानते हैं क्योंकि उनका उपयोग तो सहजानन्द स्वरूप अंतस्तत्व में लगा हुआ है। वहाँ वह ध्यान ध्याता ध्येय तीनों एक रूप परिणत हो रहे हैं। वह आत्मस्थ है। उत्तम संहनन का धारी हो तो ऐसे ही ध्यान के प्रताप से चार घातिया कर्मों को दूर कर सकलपरमात्मा हो जाता है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है, फिर अंत में तपश्चरण करके सिद्ध प्रभु हो जाता है। यह सब एक ज्ञानका प्रताप है। जिन्हें समस्त संकट दूर करना है उनका कर्तव्य है कि वे तत्त्वज्ञान का अभ्यास बनाएँ।

श्लोक 25

कटस्य कर्ताहमिति सम्बन्धः स्याद्द्वयोर्द्वयोः।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा।।२५।।

अद्वैत में सम्बन्ध की असंभावना—अध्यात्मयोग में जब वही आत्मा तो ध्यान, करने वाला है वही आत्मा ध्येयभूत है तो ऐसी स्थिति यह कैसे बताया जा सकता है कि वह योगी किसका ध्यान करता है। लोक में निमित्तनैमित्तिक प्रसंग में कोई दो चीजें सामने है तब उनका सम्बन्ध बोल दिया जाता है। जैसे घड़ा बनाने वाला कुम्हार ऐसा संकल्प कर सकता है कि मैं घड़े का कर्ता हूं, चटाई बनाने वाला कारीगर भी ऐसा विकल्प किया करता है कि मैं चटाई का कर्ता हूं, दो चीजें भिन्न-भिन्न है इसलिए इन दोनों का परस्पर में सम्बन्ध बताया जाता है, संयोग की बात कही जाती है और जब वह संयोग न हो तो वे अलग-अलग ही यथापूर्व बने रहते हैं परन्तु जहाँ ध्यान भी आत्मा, ध्येय भी आत्मा-आत्मा से भिन्न जहाँ ध्यान आदि कोई तत्त्व नहीं है तब उनका संयोग आदिक सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है?

स्वतन्त्र पदार्थ में सम्बन्ध का अभाव—आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है और वह प्रति समय में कुछ न कुछ रूप परिणमता ही रहता है। कुछ भी यह न परिणमें तो आत्मा का अस्तित्त्व भी नहीं रह सकता है। जगत में कौनसा

पदार्थ ऐसा है कि सत्ता तो उसकी हो और कुछ परिणमन उसमें हुआ ही न करे। ऐसा लोक में कोई भी पदार्थ हो ही नहीं सकता। जो होगा वह नियम से किसी न किसी रूप अपनी परिणति रखा करेगा। तो यह आत्मा भी प्रतिसमय परिणमता रहता है कभी ये बाह्य विकल्पों का आश्रय तोड़कर अपने आपके ध्यानरूप परिणमा करते हैं। जब यह जीव समस्त बाह्य विकल्पों को तोड़कर अपने आपके ध्यानरूप से परिणमता है तो वहाँ यह तो बताओ कि वह आत्मा किसका क्या कर रहा है? वहाँ कोई दो बातें ही नहीं है।

ज्ञान के विषयभूत परपदार्थ में भी ज्ञप्ति क्रिया का अप्रवेश—प्रथम तो जब बाह्यपदार्थों का भी चिन्तन ध्यान करना हो, उस काल में भी यह बाह्य पदार्थों का कर्ता नहीं है। वहाँ भी वह अपने ही किसी प्रकार के ध्यानरूप परिणम रहा है। खैर, बाह्यपदार्थों के विकल्प में तो आश्रयभूत परपदार्थ भी है किन्तु जहाँ शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान चल रहा हो वहाँ दो तत्त्व कौनसे कहे जाये जिसमें यह बनाया जाए कि यह अमुक का ध्यान करता है, यह अमुक का। अपने को ध्यानरूप से परिणम रहा है वह ज्ञानप्रकाश, शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप चल रहा है यह। इस ही पदार्थ को भेदोपचार करके यों कह दिया जाता है कि आत्मा अपने स्वरूप का ध्यान करता है।

परमार्थ में परस्पर संबंध का अभाव—ध्यान शब्द में यह लोक अर्थ पड़ा हुआ है कि जिसका ध्यान आ जाय, जिसके द्वारा ध्यान किया जाय जो ध्यान करता है। तो इस अर्थ में जिसका ध्यान किया गया वह पदार्थ और जो ध्यान करता है वह पदार्थ कोई भिन्न-भिन्न हो तो बता भी दे कि आत्मा ने अमुक का ध्यान किया है, पर जिस समय आत्मा के ध्यान अवस्था में यह परमात्मस्वरूप स्वयं आत्मा जब ध्यान के साथ एकमेक हो जाता है, स्वयं ही स्वयं के ज्ञानरूप से प्रकाशित हो जाता है तब वहाँ किसी परद्रव्य का संयोग ही नहीं है फिर सम्बंध क्या बताया जाय? सम्बन्ध तो बनावटी तत्त्व है। वास्तव में तो कही भी कुछ सम्बंध नहीं है, प्रत्येक स्वतंत्र है, वह अपने आपमें अपना परिणमन करता है। वे सब अपने आपकी शक्ति का ही परिणमन करते हैं कोई पदार्थ किसी दूसरे का न परिणमन करता है, न उपभोग करता है और न कुछ संबध भी है फिर किसको किसका बताया जाय?

मूढ़ता व अशान्ति व दीठता का अभाव—भैया ! यह जीव ज्ञान वाला है, इससे कह रहा है कि मकान मेरा है, यह अमुक मेरा है। इस प्रकार मेरा-मेरा मचाता है। यदि मकान में भी जान होती तो यह भी यों कह देता कि यह पुरुष मेरा है। अरे न मकान का यह आत्मा है, न आत्मा का यह मकान है। मकान ईट भीतों का है। यह पुरुष अपने स्वरूप में है, दृष्टि देकर जरा निरख लो अपना शरण, बाह्यदृष्टि में कुछ पार न पाया जायगा। बाहर सार क्या है? जब समागम है तब भी समागम से शान्ति नहीं है और जब समागम का वियोग होगा तब तो यह मोही शान्ति ही क्या कर सकेगा? बाह्य पदार्थ है तो दो ही तो बातें है, या बाह्य पदार्थों का संयोग होगा या वियोग होगा। यह मोही जीव न संयोग में शान्ति कर सकता है और न वियोग में शान्ति कर सकता है।

शांति तत्त्वज्ञान बिना त्रिकाल हो ही नहीं सकती है। यह सब कर्मशत्रु का आक्रमण है बाह्य पदार्थों की और दृष्टि लगाना यही मूढ़ता है, कलुषता है इस जीव की। संसारभ्रमण का यही एक कारण है।

सम्बन्धकारक के अभाव से सम्बन्ध की अवास्तविकता की सिद्धि—समस्त पदार्थ अपने आपके स्वरूप में अद्वैत है वे-वे ही के वे है, उनमें किसी दूसरे पदार्थ का सम्बंध नहीं है। देखिए ! संस्कृत के जो जानने वाले हैं वे समझते हैं। संस्कृत में कारक ६ कहे जाते है—उन ६ कारकों में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये ६ आये हैं। इन कारकों में सम्बन्ध का नाम तक भी नहीं लिया गया है। उसका अर्थ यही है कि सम्बन्ध कोई तात्विक चीज नहीं है। सम्बंध भी यदि परमार्थ होता, कारक होता तो इसे भी इन कारकों में गिनवाया जाता। लोक प्रयोग में भी देख लो—सांप ने यदि अपने शरीर को कुण्डली रूप बना लिया तो इतना तो कहा जा सकता है कि साँप ने अपने को अपने द्वारा अपने लिए अपने से अपने में गोल बना लिया है, पर किसका गोल बना लिया है इसका उत्तर औंधा हुआ उत्तर होगा। अरे जब वही एक सांप है। और वह अपने परिणमन से परिणम रहा है तो दूसरे का किसका नाम लोगे? सांप ने किसका गोल बना दिया है? कोई सम्बंध नहीं हो सकता है। जबरदस्ती की बात दूसरी है कि कुछ भी कह डाला जाय। तो कारक ६ हुआ करते हैं। सम्बंध नाम का कारक ही नहीं है। फिर जगतके पदार्थों में सम्बन्ध की खोज करके अपनी व्यग्रता क्यों लादी जा रही है?

पदार्थों की गणना—जगत में अनन्तानन्त जीव है जिनकी हद नहीं है। कब से जीव मोक्ष चले जा रहे हैं, कोई दिन मुकर्रर करके कोई नहीं बता सकता है। अगर कोई दिन मुकर्रर कर दे तो यह प्रश्न होगा कि क्या उस दिन से पहिले कोई मोक्ष न गया था? अगर कह दे कि हाँ इस दिन से पहिले कोई मोक्ष नहीं गया तो जब तक कोई मोक्ष न जा सका ऐसा संसार कितने दिनों तक रहा? उसका उत्तर दो। उसकी भी सीमा बनानी होगी। तो उससे पहिले संसार ही न था अभाव हो गया, फिर जब कुछ न था तो कुछ बन भी नहीं सकता है। अनन्त जीव समझ लीजिए मोक्ष चले गए और फिर भी अनन्तानन्त राशि बची हुई है, इसमें अनन्त मोक्ष चले जायेंगे, फिर भी जीव अनन्त ही बचे रहेंगे। कितनी अनन्तानन्त जीव राशि है। जीवराशि से अनन्तानन्तगुणे पुद्गल है। एक चौकी में कितने परमाणु है बताओ? हजार, लाख, करोड़, असंख्यात, अनगिनते, कुछ भी तो बताओ। अरे असंख्यात, अनगिनते से भी ज्यादा। अनन्तानन्त। अनगिनतें और अनन्तानन्त में फर्क है। अनगिनतें का अर्थ यह कि गिनती न की जा सके परन्तु उनका अंत होगा, किन्तु अनन्तानंत का अर्थ है कि उनका कभी अन्त न हो सके। तो अनन्तानंत जीव अनन्तानन्त पुद्गल है, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य भी एक है, आकाश भी एक है और कालद्रव्य असंख्यात है।

शांति में वस्तुस्वातंत्र्य के परिज्ञान का अनिवार्य सहयोग—ये समस्त द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र है अर्थात् अपने ही स्वरूप को लिए हुए है। समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में ही परिणमते हैं, कोई किसी अन्य में त्रिकाल भी

नहीं परिणम सकता। अब समझ लीजिए कि कोई प्रतिकूल चल रहा है तो वह प्रतिकूल नहीं चल रहा है। यह तो अपनी कषाय के अनुसार अपनी कषाय की वेदना को मिटाने के लिए प्रयत्न कर रहा है। यहाँ यह मोही जीव अपने कल्पित स्वार्थमय अवसर में विघ्न जानकर खेदखिन्न होता है, मैं कितना दुःखी हूं? मेरे अनुकूल ये लोग नहीं परिणमते बल्कि प्रतिकूल परिणम रहे हैं। अरे जो जैसा परिणमता है परिणमने दो, तुम तो भेदविज्ञान करो। सुख, साता व शान्ति भेदविज्ञान के बिना कभी न मिलेगी। कुछ दिनों का संयोग है। घर अच्छा है, समागम अच्छा है, आर्थिक समस्या भी अच्छी है, तो क्या करोगे इन सबका? कब तक पूरा पड़ेगा इन बाह्य पदार्थों से? भेदविज्ञान करो। मैं आत्मा जगतके समस्त पदार्थों से न्यारा हूं, ऐसा उपयोग बनाकर अपने को न्यारा समझ लो तो शान्ति मिलेगी अन्यथा परकी और आकर्षण होने से कभी शान्ति न मिल सकेगी।

सांसरिक सुखों के अनुपात से दुःखों के उद्गम की अधिकता—भैया ! ये संसार के सुख जितने ज्यादा मिलेंगे उतना ही ज्यादा दुःख के करण है, खूब सोच लो। किसी को स्त्री का समागम है, वह स्त्री आज्ञाकारिणी हो, रूपवान हो और भी अनेक कलाएँ हो, उसके मन को रमाने वाली हो तो जब उसका वियोग होगा तो कितना क्लेश होगा? जितना राग किया है उसके अनुपात से हिसाब लगा लो, ज्यादा क्लेश होगा, और किसी को अपनी स्त्री से अनुराग नहीं है अथवा किसी कारण से स्त्री कलाहीन है, लड़ने वाली है, आज्ञा नहीं मानती है तो उससे तो पहिले से ही दिल हटा हुआ है उसका वियोग होने पर उसको क्लेश उसके राग के अनुपात से होगा। जो पुरूष बाह्य पदार्थों को जितना अधिक प्यारा मानता हो वह उतना ही अधिक दुःख पायगा। जो विवेकी पुरूष है, जिन्हें सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ है वे पाये हुए समागम में हर्ष नहीं मानते हैं, उसके ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं।

ज्ञानी की दृष्टि में सम्पदा व विपदा की समानता—ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह भी कर्मों का एक उदय है। नाम दो है- सम्पदा और विपदा, पर कष्ट के कारण दोनों ही है। जैसे नाम दो हो नागनाथ और सांपनाथ मगर विष के करने वाले दोनों ही है। सांपनाथ को नागनाथ कह देने से कही वह सांप निर्विष न हो जायगा, उसके संकट तो झेलना ही पड़ेगा, ऐसे ही ये लोक की सम्पदा और विपदा है, इनमें मोही जीव सम्पदा को भला मानता है, यह बहुत भला है, इससे बड़ा सुख है, पर ज्ञानी जानता है कि सम्पदा और विपदा दोनों ही दुःख के कारण है। पुण्य और पाप दोनों ही ज्ञानी के लिए मात्र ज्ञेय रहते हैं, वह पुण्य के फल में हर्ष नहीं मानता है और पाप के फल में विषाद नहीं करता है। समता बुद्धि रखता है। ज्ञानी की धुन तो अलौकिक अध्यात्मरस के पान की और लगी हुई है। जिसने अद्वैत निज आत्मतत्त्व का अनुभव किया है उसे संकट कैसे सता सकेंगे?

सर्व स्थितियों में परमार्थतः पदार्थ की स्वतंत्रता—ये समस्त पदार्थ स्वतंत्र है, अपने स्वरूप से है पर के स्वरूप से नहीं है। अशुद्ध अवस्था में पर का निमित्त पाकर अशुद्ध परिणत हो जाते हैं तिस पर भी यह जीव अशुद्ध होता है अपनी ही शक्ति के परिणमन से, दूसरे पदार्थ ने उसे अशुद्ध नहीं कर दिया। प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है, अपने ही परिणमनरूप परिणमता है। हम दुःखी होते हैं तो अपने आप में कल्पनाएँ रचाते हैं और उन कल्पनाओं

से दुःखी हुआ करते हैं और हम सुखी होते हैं तो अपनी कल्पनाएँ बनाकर ही सुखी होते हैं। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को सुखी दुःखी करने में समर्थ नहीं है। जो घर मोह अवस्था में प्रिय लगता था वही घर आज वैराग्य जगने पर प्रिय नहीं लगता है। ये सारी सृष्टियाँ, सुख, दुःख, संकल्प, विकल्प भोग, उपभोग आदि समस्त सृष्टियाँ इस आत्मा से ही उठकर चला करती है।

आत्मा के एकत्व चिन्तन में शान्ति समृद्धि का अभ्युदय—इस आत्मा के ध्यान मे आत्मा अद्वैतरूप रहती है, अब किसका ध्यान करे, जब यह जीव संसार अवस्था में है, कर्म आदिक का संयोग चल रहा है तब भी यह जीव वस्तुतः अपना परिणमन कर रहा है। इस अशुद्ध निश्चय की दृष्टि से भी अपने आपके एकत्व को सम्हाले तो इस अशुद्ध निश्चयनय से आगे चल कर केवल निश्चयनय में आ सकते हैं। अपने आपको जितना भी अकेला चिन्तन किया जाये सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ—इस प्रकार का अपना अकेलापन चिन्तन किया जाए, तो उस जीव में शान्ति का उदय होगा। किसी दूसरे पर दृष्टि रखकर शान्ति कभी आ ही नहीं सकती है।

मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का आद्यस्थान—मोक्ष मार्ग में सम्यक्त्व का प्रथम स्थान है। जो जैसा पदार्थ है उस पदार्थ को वैसा समझ लेना यही सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के बिना इस जीव ने इतने मुनिपद धारण किए होंगे कि एक-एक मुनि अवस्था का एक-एक कमंडल जोड़ा जाय तो अनेक मेरू पर्वत बराबर ढेर लग जायगा। भेष रखने में अथवा अपनी कपोल कल्पित मान्यता के द्वारा क्रियायें करने में कौन सा बड़प्पन है? केवल एक संयोग में रूप बदल गया है। अज्ञानदशा में गृहस्थ रहता हुआ गृहस्थ के योग्य विकल्प मचाने का काम करता था, अब अज्ञान दशा में मुनि का रूप रखकर अब मुनि की चर्या जैसा विकल्प का काम करता है, पर अज्ञानदशा तो बदल नहीं सकती देह के कुछ भी कार्य बनाने से। यह अज्ञानदशा भी ज्ञान का उदय होने से ही दूर की जा सकती है। ज्ञान बिना सम्यक्त्व नहीं, ज्ञान बिना ध्यान, तप, व्रत, संयम नहीं, ज्ञान बिना आत्मा के उद्धार का कभी उपाय नहीं बन सकता। इस कारण अपने आप पर यदि दया आती है, तरस आती है, अनन्तकाल से भटकते हुए इस आत्मप्रभु की और यदि कुछ करुणा जगती है तो सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान का अभ्यास बनावे। धन वैभव पुद्गल ढेर का संचय—इसमें आस्था बुद्धि न रक्खें, ये शान्ति के कारण न कभी हुए है और न हो सकते हैं।

प्रत्येक पदार्थ के अद्वैतता के निर्णय में मुक्ति का आरम्भ—भैया ! जब यह जीव ही बाह्य विकल्पों को तोड़कर अपने आपके सहजस्वरूप में मग्न होगा तब उसे शान्ति प्राप्त होगी। यों अद्वैत स्वरूप के ध्यान के लिए यह निर्णय दिया है कि जब तुम कुछ देते ही नहीं, तुम किसी दूसरे में कुछ कर सकते ही नहीं तो तुम्हारा परपदार्थों से क्या सम्बंध है? तुम्हारे प्रत्येक परिणमन में तुम ही परिणमन वाले हो और तुम्हारा ही वह परिणमन है। फिर सम्बंध क्या किसी अन्य पदार्थ से? जब यह आत्मा ही ध्यान है, आत्मा ही ध्याता है तो फिर इसका किसी भी

पदार्थ से रंच सम्बंध नहीं है। एक निज ज्ञानानन्दस्वरूप ही जो ध्यान करता है वह शीघ्र ही निकट काल में मोक्षपद प्राप्त करता है।

।।इति इष्टोपदेश प्रवचन प्रथम भाग समाप्त